Vol -4, ग्रंथ –4, वर्ष – 2,अंक – 1 उज्जैन, माह– मार्च 2014 से फरवरी 2015, वार्षिक 80/–रु, प्रति अंक 40/– रु.

विक्रमार्क
THE VIKRAMĀRKA

अर्धवार्षिक शोध –पत्रिका
Half Yearly Research Journal
ISSN 2348-7720

विक्रमांकित पिंगलेश्वर का एक मुख

पिंगलेश्वर विक्रम

सांदीपनी आश्रम : नन्दी पर विक्रम

मंगलनाथ के पास शिव स्तम्भ पर विक्रम

ताम्र-पत्र प्रथम

ताम्र-पत्र द्वितीय

महाकुमार त्रैलोक्यवर्मन का ताम्र-पत्र संवत् 1207 (1151ई .)

विक्रमार्क

THE VIKRAMĀRKA

ग्रंथ - 4
Vol - 4
वर्ष - 2
अंक - 1

अर्धवार्षिक शोध–पत्रिका
Half Yearly Research Journal
मार्च 2014 से अगस्त 2014
सितम्बर 2014 से फरवरी 2015

विक्रमाब्द 2073

प्रधान सम्पादक
मनोज श्रीवास्तव

सम्पादक
राजेश प्रसाद मिश्र
डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

सह सम्पादक
रमेश कुमार शुक्ल

समन्वयक
संजय यादव
प्रदीप अग्रवाल

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ
स्वराज संस्थान संचालनालय, मध्यप्रदेश
1, उदयन मार्ग, उज्जैन -456010

Maharaja Vikramaditya Shodhpith
Swaraj Sansthan Sanchalanalay, Madhay Pradesh
1, Udayan Marg, Ujjain - 456010 (M.P.)
Telefax : 0734-2521499
Email : vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web. : www.mvspujjain.org

विक्रमार्क

THE VIKRAMĀRKA

ISSN 2348-7720

अर्धवार्षिक शोध पत्रिका

Half Yearly Research Journal

संवत् : **2073**

सन् : मार्च 2014 से अगस्त 2014

: सितम्बर 2014 से फरवरी 2015

मूल्य : एक अंक 40/- रू.

वार्षिक 80/- रू.

आवरण : **विक्रम कालीन नन्दी**

संपादक : **डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित**

संपादन सहयोग : **डॉ. जगन्नाथ दुबे**

आकल्पन : **रुद्राक्ष ग्राफिक्स, उज्जैन**
9165512233

प्रकाशक : **महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ**
स्वराज संस्थान संचालनालय
1, उदयन मार्ग, उज्जैन - 456010

दूरभाष : (0734) 2521499

Fax : 0734-2521499

Email : vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujjain.org

मुद्रण : **पंचायतीराज मुद्रणालय**
1, औद्योगिक क्षेत्र, नागझिरी, देवास रोड, उज्जैन

कार्यालय सहयोग : **रितेश वर्मा, संजय मालवीय**

प्रकाशित सामग्री के विचारों से शोधपीठ का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

पूर्वरंग

विक्रमादित्य शोध पीठ से प्रकाशित विक्रमार्क का चौथा ग्रन्थ अनेक नवीन तथ्यों से सम्पन्न है। यह नवीनता एक ओर विवरणात्मक है तो दूसरी ओर नवीन पुरासामग्री से परिचय सम्बन्धी है। विक्रम का एक नया विशिष्ट सिक्का इसमें प्रकाशित हो रहा है। एक अनोखा शिलाखण्ड प्रकाशित हो रहा है जिस पर विक्रम के नाम तीन जगह उत्कीर्ण है। उस पर गणपति, शिव अंकित है। यह लेख जिज्ञासुओं के लिए विचारोत्पादक है। विक्रम के पुरासन्दर्भों के पोषक लेखों के साथ विक्रमकालीन शक्तियों के सन्दर्भ भी उस युग की स्थिति स्पष्ट करते हैं। एक लेख प्रतिक्रिया का भी दिया गया है। जिससे विद्वानों के उस वर्ग का विचार आ सके जो नये प्रमाणों की उपेक्षा करते हैं। उसका सम्यक् उत्तर भी सन्देहनिवारण के लिए दिया गया है। विक्रम संबंधी परम्परागत विचारों के साथ ही भर्तृहरि सहित अन्य तत्कालीन नव तथ्य प्रकाशन कतिपय लेख भी संकलित हैं।

इस प्रकार यह अंक पारम्परिक विचारों के साथ ही नये सन्दर्भ देकर विक्रमादित्य सम्बन्धी अन्वेषण के पथ प्रशस्त करने में निरत है शोध पीठ के माध्यम से होने वाले नये नये अन्वेषणों और उन पर देश के प्रसिद्ध विद्वानों के विचारों को प्रस्तुत कर यह विक्रमार्क अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख है। आशा है पूर्व अंकों के समान यह अंक भी जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी होगा।

अनुक्रम

01.	समकालीन शक्तियों के संदर्भ में विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता	डॉ. सुस्मिता पांडे	01
02.	**Vikram Sanvat And Vikramaditya As Known From Archaeological Sources**	**Jai Prakash**	08
03.	राजा विक्रमादित्य अस्तित्व मराठी संत साहित्य के माध्यम से	शशिकांत लिमये	13
04.	गंधर्वपुरी की किवदंतियों में महाराजा विक्रमादित्य के पिता गन्धर्वसेन	नरेश कुमार पाठक	24
05.	जिला संग्रहालय विदिशा में सुरक्षित महाराजा विक्रमादित्य कालीन प्रतिमाएं	नरेश कुमार पाठक	27
06.	गढ़कालिका, उज्जैन के सर्वेक्षण से प्राप्त अद्वितीय खण्डित शिलालेख	डॉ. जगन्नाथ दुबे	29
07.	महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ पुरातत्व संग्रहालय में संरक्षित 'विक्रम' नामाङ्कित ताम्र-मुद्रा	डॉ. जगन्नाथ दुबे	31
08.	संवती मालवगणाध्यक्ष या 'महाराजा' विक्रमादित्य अनुपूरक	डॉ. रामचन्द्र तिवारी ''	32 39
09.	विक्रम कन्या वसुंधरा	मू.के. स.ल. कात्रे अनु. अजिता त्रिवेदी	44
10.	घटकर्पर	''	49
11.	**Bhartrihari's Concept of Communication in Today's Context**	**Dr. Dharmendra Mehta** **Dr. Naveen k. Mehta**	53
12.	**Creation Of Bhimkund**	**Pooja Saxena**	57
13.	भर्तृहरि की ऐतिहासिकता	डॉ. श्यामसुन्दर निगम	61
14.	भर्तृहरिकृत शृंगार शतक और मूर्तिशिल्प- एक अध्ययन	डॉ. रामकुमार अहिरवार	67
15.	भर्तृहरिकृत प्रतिभावाक्यार्थ विवेचन	डॉ. सदानन्द त्रिपाठी	71
16.	भर्तृहरि की शतकत्रयी : एक समग्र जीवन दृष्टि	डॉ ईला घोष	75
17.	देवदत्ता	डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित	85
18.	भर्तृहरि के शतकत्रय में मानवीय मूल्य - दर्शन	डॉ. बालकृष्ण शर्मा	87
19.	पाराशर तीर्थ के आधुनिक शिव मंदिर के दीवार पर स्थापित खरोष्ठी अभिलेख	डॉ. जे.एन. दुबे	93
20.	महाकुमार त्रैलोक्यवर्मन का ताम्र पत्र संवत् 1207 (1151)	डॉ. जे.एन. दुबे डॉ. आर.सी. ठाकुर	95
21.	रामगढ़ की जोगीमढ़ा गुफा के चरण चिह्न लेख	डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित	98

पुराण - विचार

अमार्गं मा वदन्त्वत्र न निन्द्या: श्रुतयोऽव्यया: ।
पुराणं नान्यथा प्रोक्तं ब्रह्मणा लोककर्तृणा ।।
ये निन्दन्ति पुराणानि धर्मशास्त्राणि नास्तिका: ।
ते यान्ति नरकं घोरं यावदाभूतसम्प्लवम् ।।

स्कन्दपुराण, अवन्तीखण्ड, चौरासीमहादेव माहात्म्य 67/30-31

अनुवाद

कुमार्ग की बात न करें । अक्षय वेदों की निन्दा न करें । लोकनिर्माता ब्रह्मा ने पुराण झूठा नहीं कहा है। जो नास्तिक पुराण और धर्मशास्त्रों की निन्दा करते हैं, वे प्रलय पर्यन्त घोर नरक भोगते हैं।

समकालीन शक्तियों के संदर्भ में विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता

प्रो. (डॉ.) सुष्मिता पांडे,
डी.लिट्

विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता को प्रमाणित करना सदैव से एक जटिल समस्या रही है। आज से कुछ वर्ष पूर्व केवल साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर यह प्रमाणित किया जाता था परन्तु कुछ वर्षों से अनेक पुरातात्त्विक प्रमाण भी खोजे जा चुके हैं । इस शोध में डॉ. वाकणकर, डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित, डॉ. जगन्नाथ दुबे एवं अश्विनी शोध संस्थान के डॉ. ठाकुर अग्रणी हैं। इनके द्वारा अभिलेखों और सिक्कों के आधार पर विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता सब के समक्ष लाई गई है। कुछ वर्ष पूर्व डी.सी. सरकार तथा कुछ अन्य विद्वानों ने विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता को नहीं स्वीकारा था। अभी भी अनेक विद्वान इस बात को नहीं मानते हैं। इसीलिए इस शोधपत्र का प्रयोजन इन विद्वानों के तर्कों पर विचार करते हुए पुराने तथा नये पुरातात्त्विक साक्ष्यों तथा उनकी नई व्याख्याओं द्वारा विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता को सिद्ध करना है। इसके लिए विक्रमादित्य की समकालीन शक्तियों के विषय में जानना आवश्यक है।

विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में जैन साक्ष्य बहुत महत्वपूर्ण हैं। इसमें मेरुतुंग की विचार श्रेणी, जैन पट्टावलियाँ विक्रम संवत् का श्रेय विक्रमादित्य को देती हैं । इनके अनुसार महावीर के निर्वाण (527ई.पू.) के 470 वर्ष पश्चात् विक्रमादित्य का शासन हुआ। अत: इस प्रकार यह तिथि 57 ई.पू. आ जाती है। पट्टावलियों से स्पष्ट होता है कि गर्दभिल्ल का राज्य 13 वर्ष हुआ फिर 4 वर्ष शकों का राज्य रहा फिर विक्रमादित्य का शासन आया। अलबरुनी के अनुसार शक संवत् विक्रमादित्य के 135 वर्ष पश्चात् हुआ।[1] अर्थात 135 वर्ष पश्चात् 78 ई. का शक संवत् आया।

प्रभावकचरित (प्रभाचन्द्र सूरि) के अन्तर्गत कालक सूरि का जीवन वृत्त है। इसके अनुसार धारावर्ष में वीरसिंह का राज्य था। उसका पुत्र कालक और पुत्री सरस्वती थी। गुणाकर नामक जैन संत से प्रभावित होकर कालक बहिन सहित जैन बन गया। एक बार वह उज्जयिनी गया। वहाँ के राजा गर्दभिल्ल ने सरस्वती का अपहरण कर लिया। कालक के विनती करने पर भी जब गर्दभिल्ल ने सरस्वती को नहीं छोड़ा तो कालक पश्चिम दिशा में सिंधु पार कर शकों के देश पहुँचा। वहाँ 90 शक राजा थे, जिनका एक अधिपति था। एक बार जब अधिपति इन राजाओं से क्रुद्ध हुआ तब कालक इन सभी सामन्त राजाओं को सौराष्ट्र, लाट तथा मालवा तक ले आए। उन्होंने विशाला (उज्जयिनी) को घेरकर गर्दभिल्ल को पकड़ लिया, उसको देश निकाला दिया तथा वन में वह सिंह द्वारा मारा गया। सरस्वती भिक्षुणियों में वापस चली गई। इस घटना के कुछ वर्षों बाद विक्रमादित्य बहुत प्रतापी राजा बन गया और अपना संवत् चलाया। उसके 135 वर्ष बाद शकों ने पुन: अवन्ती को जीता और अपना शक संवत् चलाया।[2]

अल्तेकर के अनुसार कालकाचार्य की कथा तेहरवीं शताब्दी में लिखी गई और उसमें ऐतिहासिक तत्व पर्याप्त मात्रा में हैं। डी. सी. सरकार ने भी इसकी तिथि 1279 ई. मानी है।[3] परन्तु डी.सी. सरकार ने इसे 1127 ई. माना है।[4] 1606-07 में तारीख फरिश्ता में कहा गया है कि विक्रमादित्य ने उज्जैन बसाया, धार में दुर्ग बनाया तथा उज्जैन में महाकाल देवालय बनाया।[5]

वस्तुत: विक्रमादित्य सम्बंधी सबसे प्राचीन साक्ष्य गुणाढ्य की बृहत्कथा (प्रथम सदी) है। इसके अनेक रूपान्तर बाद में बने। जैसे बृहत्कथाश्लोकसंग्रह (बुधस्वामी)[6] क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी, सोमदेव का कथासरित्सागर और बृहत्कथा क्योंकि विक्रमादित्य से एक ही शताब्दी बाद की रचना है, इसलिए उसके साक्ष्य को प्रामाणिक मानना चाहिए।

यहाँ हमारे समक्ष प्रश्न यह उठता है कि कालकाचार्य की कथा में जो शक वर्णित हैं वह कौनसे शक थे। प्रभावकचरित के अनुसार कालक सिन्धु पार कर शकों के देश पहुँचा था। वहाँ का अधिपति जब 90 राजाओं से अप्रसन्न हुआ तो कालक इन सभी सामन्त राजाओं को सौराष्ट्र, लाट और मालवा में ले आये थे। यह सर्वज्ञात है कि शकों की एक शाखा 'सीस्तान' (पूर्वी ईरान) में भी थी। कनिंघम, विमलचंद पाण्डे[7] तथा के.डी. बाजपेयी के अनुसार संभवत: सीस्तान से शकों की एक शाखा सिन्धु नदी की घाटी होकर दक्षिण में सौराष्ट्र और फिर उज्जैन पहुँची। कनिंघम का भी ऐसा ही मत है। के.डी बाजपेयी और विमलचंद पाण्डे के अनुसार रामायण, महाभारत, महाभाष्य, मार्कण्डेय पुराण, कालकाचार्य कथानक आदि ग्रंन्थों में शकों के जो उल्लेख आये हैं वे इसी शाखा के थे।[8] राजबली पांडे का भी यही मत है। यद्यपि अल्तेकर 57 ई.पू. के संस्थापक विक्रमादित्य को नहीं मानते किन्तु उनके अनुसार यह राजा शाही कहे जाते थे और उनका आधिपत्य क्षेत्र काठियावाड़ से उज्जैन तक था।[9]

176 ई.पू. मध्य एशिया में भारी राजनैतिक उथल-पुथल हुई। व्हिंगनू जाति ने पश्चिम में यूहचि पर आक्रमण किया तब उन्होंने ताह्युचि ने सीरदरिया में शकों को भगाया। शकों ने सीरदरिया पार कर बैक्ट्रीया पर अधिकार किया तथा यूनानी राजा को पराजित किया। कालान्तर में ह्युचि ने पुन: इनको बैक्ट्रीया से निष्काशित किया। चीनी स्रोत के अनुसार वे दक्षिण में बढ़े और काइपेन अथवा काबुल पर अधिकार किया। शकों ने अपने अभियान में पार्थिया पर भी आक्रमण किये। वहाँ मिथ्राडेट्स (123-88 ई.पू.) ने उनको हरा कर सीस्तान छीना। अब शकों ने भारत पर अभियान किया। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में वे अनेक मार्गों से प्रविष्ट हुए। एक शाखा हिन्दू - कुश के उत्तरी मार्ग से आकर दक्षिण की ओर आई और दूसरी शाखा पूर्वी ईरान के दक्षिणी मार्ग का अनुसरण करती हुई सिंध में आई। वहाँ से सौराष्ट्र, गुजरात एवं मालवा पहुँची।

कुछ विद्वानों का यह भी मत है (डी.सी. सरकार) कि काबुल घाटी में यूनानियों के विरुद्ध सफल न होने पर यह पश्चिम में हेराथ और सीस्तान पहुँच गये। मिथ्राडेट्स के द्वारा पराजित होने पर सिंधु की घाटी में आये। तब तक यह पार्थियनों के साथ घुल-मिल गये थे। ए. के. मजुमदार के अनुसार पार्थियन और शकों के मिश्रण वाले लोगों को भारतवासियों ने 'पहलव' कहा। वोनोन्ज़ से गोन्डाफर्निस तक पहलव माने जाते हैं।

पहला शक राजा माविस था, (क) जिसके तक्षशिला ताम्रपत्र में 78 तिथि दी गई है। यह तिथि 78 शक संवत् की नहीं हो सकती। क्योंकि इससे द्वितीय 78+78+-156 अर्थात् द्वितीय शताब्दी ई. होती है। परन्तु टोलमी के अनुसार इस काल में शक भू भाग काठियावाड़ तक ही सीमित था और हमें यह ज्ञात है कि इस काल में इस क्षेत्र में रुद्रदामन का आधिपत्य था।

(ख) यह तिथि विक्रम संवत् भी नहीं हो सकती क्योंकि तब 78-57=21 ई. आ जाती है। परंतु यह तिथि गोन्डाफ र्निस से मेल नहीं खाती। डी.सी. सरकार के अनुसार यह 57 ई.पू. अवश्य है परन्तु वोनोन्ज़ द्वारा स्थापित संवत् है। दोनों

ही तर्क सही नहीं प्रतीत होते हैं , क्योंकि तब इससे माविज की तिथि 21 ई.पू. से 21 ई. आ जाती है, यह सही नहीं हो सकती, क्योंकि तख्तेबाही अभिलेख के अनुसार गोन्डाफर्निस की तिथि 57 संवत् लेने पर 103-57=46 ई.पू. हो जायेगी। अब लगभग यह सर्वमान्य है कि गोन्डाफर्निस का राज्य 46 ई. में था। जबकि सेंट टॉमस उससे मिला था।[10] अत: यह स्पष्ट है कि 19 से लेकर 46 ई. में गोन्डाफर्निस था।

(स) 78 वर्ष 150-155 को एक विशेष संवत् माना गया है। जबकि मिथ्राडेट्स प्रथम (171 से 136 ई.पू.) ने सीस्तान को पार्थियन साम्राज्य में मिलाया था। अत: 150-78=72 ई.पू. या 155-78=77 ई.पू होगा। के. डी. बाजपेयी और विमलचंद पाण्डे ने भी माविस की तिथि यही दी है। इसके बाद ऐजेस प्रथम का शासन आया जो 50 ई.पू. में समाप्त हुआ।[11] यद्यपि टॉर्न के मतानुसार मालवा विजय का श्रेय माविस को था। परन्तु उपर्युक्त साक्ष्यों को देखते हुए यह प्रतीत होता है कि यह शक ऐज़ेस प्रथम के काल के हो सकते हैं ।

अन्य समकालीन शक्तियों का परीक्षण करने पर हम यह देखते हैं कि 72 ई.पू. से 30 ई.पू. तक कण्वों का राज्य था। इसी समय पुराणों के अनुसार शुंगों के कुछ अन्य वंशज भी थे जो कण्वों के अन्तर्गत मालवा में भी थे।[12] अत: सिमुक का राज्य प्रथम शताब्दी ई. पू. के द्वितीय या तृतीय चरण में था। यह तिथि नानाघाट, नासिक, साँची तथा हाथीगुम्फा अभिलेखों से सिद्ध होती है जो प्रारम्भिक सातवाहनों की जानकारी देते हैं।[13] इन अभिलेखों के आधार पर आजकल प्राय: सभी अन्य विद्वानों के अनुसार इसकी तिथि 60 से 37 ई.पू. की मानी गई है। डी.सी. सरकार इस बात की तीव्र संभावना व्यक्त करते हैं कि सिमुक सातवाहन के राज्य की उत्तरी सीमा पूर्वी तथा पश्चिमी मालवा दोनों में रही होगी।[14] परन्तु तथ्य यह है कि सिमुक स्वयं ही कमजोर कण्वों के अंतर्गत था तथा उनके उन्मूलन के पश्चात् एकाएक इतना शक्तिशाली नहीं हो गया होगा। ऐसी परिस्थिति में उज्जयिनी में एक प्रबल मालवा गणराज्य के अधिनायक विक्रमादित्य की पूर्ण संभावना होती है, जिनको साहित्यिक साक्ष्य भी प्रमाणित करते हैं।

डी.सी. सरकार का कथन है कि पहले मालवा में शुंग तथा कण्वों का राज्य था जिनमें कुछ की प्रथम शताब्दी ई.पू. में राजधानी विदिशा थी। इसके पश्चात् वे सातवाहनों के द्वारा पराजित हुए, जिन्होंने प्रथम शताब्दी ई.पू. के तृतीय तथा चतुर्थ चरण में पूर्व तथा पश्चिम मालवा पर अधिकार कर लिया था।[15] वह सिमुक सातवाहन के आधिपत्य क्षेत्र की भी दोनों पूर्वी तथा पश्चिमी मालवा की संभावना व्यक्त करते हैं।[16] परन्तु इस काल में सिमुक का अवन्ती में आधिपत्य नहीं प्रमाणित हो सकता है। डी.सी. सरकार का तर्क सिक्कों को लेकर है। वह रेपसन को उद्धृत कर कहते हैं कि 'सात' प्रकार के सिक्के प्रारम्भिक ऐरण, वेसनगर एवं उज्जैन से सामने रखते हैं क्योंकि उनका गोल आकार पश्चिम मालवा का अधिक संभावित होता है क्योंकि पूर्वी मालवा में चौकोर सिक्के अधिक प्राप्त हुए हैं।किन्तु नई खोजों के आधार पर उज्जयिनी के गोल तथा चौकोर दोनों प्रकार के सिक्के के.डी. बाजपेयी द्वारा वर्णित हैं। उज्जयिनी नगर नाम वाले सिक्के चौकोर भी हैं । इसलिए श्रीसात सातकर्णी प्रथम भी हो सकता है जिसकी तिथि 27 से 17 ई.पू. मानी गई है।[17] के. गोपालाचारी ने श्रीसात का तादात्म्य सातकर्णी प्रथम से किया है।[18] परन्तु इन दो सिक्कों के विरुद्ध प्रथम शताब्दी ई.पू. के अन्य सिक्के भी मिले हैं जो इस काल में विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता प्रमाणित करते हैं। जैसे के.डी. वाजपेयी द्वारा प्रकाशित सिक्का -

(अ) जिसमें अग्रभाग पर तीन चाप वाला पर्वत है तथा लेख 'रञो.....दतस' है तथा पृष्ठ भाग पर वृक्ष तथा वृषभ (टोरिन) प्रतीक है।[19] यह प्रथम शताब्दी ई.पू. के आखिरी चरण का काल है जो विक्रमादित्य के काल का है और इस काल में सातकर्णी प्रथम का उज्जयिनी में आधिपत्य के विरुद्ध जाता है।

(ब) भगवती लाल राजपुरोहित तथा जे.एन. दुबे द्वारा प्रकाशित एक अन्य सिक्का है जिसमें -

पुरो भाग में द्वादशार चक्र है ।

पृष्ठ भाग में प्रथम शताब्दी ई.पू. की ब्राह्मी लिपि में लेख विक्रम तथा मुद्रा के निम्न भाग में ब्राह्मी लेख 'परवतंद्र (पर्वतेन्द्र)' कदस (कृतस्य) अंकित है।

विक्रम नामांकित शिव प्रकार की मुद्राएँ –

(i) यह ताम्र मुद्रा गोल आकार की है।

पुरो भाग में शिव समभंग मुद्रा में हैं तथा दण्ड एवं कमण्डल युक्त हैं। शिव के दाहिनी ओर प्रथम शताब्दी ई.पू. की ब्राह्मी लिपि में लेख राजाविक्रम है तथा बाँयी ओर वेदिका वृक्ष है।

पृष्ठ भाग में उज्जयिनी चिह्न है और द्विवृत्त अंकित है।

(ii) पुरो भाग में द्विभंग मुद्रा में जटा तथा मुकुटयुक्त शिव हैं जो दण्ड तथा कमण्डल लिए हुए हैं तथा दाहिनी ओर प्रथम शताब्दी ई.पू. की ब्राह्मी लिपि में राजा विक्रम लिखा है।

अश्वमेध प्रकार की मुद्रा

पुरो भाग में वृत्तायत बिन्दुओं के मध्य दाहिनी ओर पंखयुक्त गतिशील अश्व अंकित है।

पृष्ठ भाग के मध्य में वेदिका वृक्ष है, दाहिनी ओर (सि) रि (ि)वक्रम तथा व अक्षर और मात्रा का ऊपरी भाग मुद्रा के किनारे से बाहर हो गये हैं । वेदिका वृक्ष के बाँयी ओर ब्राह्मी लिपि में लेख प्रथम शताब्दी ई.पू. उजयि(नि) नगर नामांकित है ।

इसके अतिरिक्त विक्रमादित्य की जैन परम्परा की पुष्टि करते हुए के.डी. वाजपेयी द्वारा प्रकाशित ताम्र सिक्कों का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें हमुगम, वलाक, दास, मनु एवं सोम हैं। उनको शक सिक्के कहा गया है। इनकी तिथि प्रथम शताब्दी ई.पू. के प्रारम्भिक वर्षों की कही गई है। यदि ये प्रारम्भिक वर्षों के हैं तथा रा....ञो दतस आदि प्रथम शताब्दी ई.पू. के बाद के चरण के हैं तो जैन परम्परा दृढ़ हो जाती है कि पहले शकों ने राज्य किया फिर विक्रमादित्य का राज्य आया। कुछ विद्वानों जैसे पी.के. जायसवाल और के.के् दासगुप्ता द्वारा इसी प्रकार के मालव सिक्कों के शकों के होने में संशय किया है और वे इस प्रकार के सिक्कों को मालवा के ही मानते हैं।[20] परन्तु दोनों ही परिस्थिति में विक्रमादित्य की परम्परा को बल मिलता है। क्योंकि इससे यह सिद्ध होता है कि इस काल में उज्जयिनी में सातवाहनों का अधिकार नहीं था।

विक्रमादित्य के समकालीन सातवाहनों के मालवा में राज्य की पुष्टि विद्वान् साँची के स्तूप के दक्षिणी तोरण द्वार में आनंद नाम के स्थपति के उल्लेख से करते हैं जो सातकर्णी के अन्तर्गत था।

इनमें दो नई बातें सामने आती हैं।

(क) आवेषनी का एक अन्य अर्थ 'अर्थशास्त्र' से स्पष्ट होता है। कांग्ले की व्याख्या के अनुसार आवेषनी अपने स्थान से दूर कहीं भी ठेके में कार्य करते थे।[21]

(ख) साँची स्तूप नं. 1 की तिथि से सम्बन्धित अनेक नये मत आ गये हैं। जियोवानी वेरार्डी[22] ने तोरण द्वार वाला काल 0 से 30 ई. माना है। वाल्टर कहा है। हलांकि यह मत बिल्कुल सही नहीं प्रतीत होता है क्योंकि यह मत लिपिशास्त्र (Epigraphy)की ऐतिहासिकता के विरुद्ध जाता है।

विक्रम संवत् के विषय में यह सर्वविदित है कि इसको पहले कृत संवत् फिर मालवा संवत् कहा गया और यह 57 ई. पू. से प्रारम्भ हुआ। वे प्रमुख अभिलेख जिनमें कृत, मालव और फिर विक्रम की परम्परा दिखती है उनमें निम्न प्रमुख हैं -

(1) उदयपुर का नंदसा यूप अभिलेख जिसकी तिथि 282 है - ***कृतयोर्द्वयोर्वर्षतयोर्द्वयशितयो: चेत्यपूर्णमास्याम।***

(2) (क) राजस्थान का बरनाला यूप अभिलेख जिसमें 284 तिथि दी है।[1] (ख) बरनाला का ही दूसरा अभिलेख है जिसमें 335 तिथि है। इनमें *कृतेहि* उल्लिखित है।

(3-5) राजस्थान में बड़वा से प्राप्त तीन अभिलेख जो मौखरी महासेनापतियों के हैं - इनमें 295 वर्ष और *कृतेहि* है।[1]

(6) राजस्थान का विजयगढ़ अभिलेख 428 वर्ष जिसमें *कृतेषु* लिखा है।[1]

मालव लिखे अभिलेखों में निम्न हैं -

(1) 461 के मंदसौर अभिलेख में कृत तथा मालव दोनों संवतों का नाम है।[1] - ***श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते।*** अत: मालव तथा कृत एक ही संवत् है।

मंदसौर अभिलेख में तिथि मालव संवत् में है। इसके अतिरिक्त अन्य अभिलेखों में भी मालव संवत् का उल्लेख है। विक्रम संवत् का उल्लेख निम्न अभिलेखों में है -

(1) 794 वर्ष का धिनिकी (गुजरात) के सैन्धव राजा जयैकदेव का अभिलेख है, जिसमें लिखा है - ***विक्रम संवत्सर शतेषु सप्तसु चतुर्नवत्य अधिकेश्व-अंकत:।***[1]

(2) 898 वर्ष का चाहमान चंडमहासेन का धौलपुर अभिलेख है, जिसमें लिखा है - ***वसुनवक अष्टौ, वर्षा.गतस्य कालस्य विक्रमाख्यास्य।***[1]

अत: 428 वर्ष तक यह कृत कहलाया, फिर मालव, फिर विक्रम और बाद में विक्रमादित्य भी। ये तीनों संवत् मालवगण से सम्बन्धित थे जो 4थी शताब्दी ई.पू. में पंजाब में थे बाद में वे राजस्थान गये, फिर मालवा में उनका आधिपत्य हुआ। उनका गणनायक विक्रमादित्य था।

अब यह बात उज्जयिनी से प्राप्त दो मोहरों से भी प्रमाणित हो गई है।

(क) विष्णु श्रीधर वाकणकर द्वारा उज्जैन के गढ़कालिका क्षेत्र से प्राप्त एक मुहर है जिसके मध्य भाग में मकार अथवा नंदिपदयुक्त स्वस्तिक और किनारे में प्रथम शताब्दी ई.पू. की ब्राह्मी लिपि में लेख **'राञोसिरि.....कतसउजेनिय'** (राजाश्री....कृतस्य उज्जयिनी) उत्कीर्ण है।

(ख) डॉ. वि. श्री. वाकणकर शोध संस्थान, उज्जैन में संरक्षित एक अन्य मुहर पर प्रथम शताब्दी ई.पू. की ब्राह्मी लिपि में लेख 'कुतस ' जिसका संस्कृत रूप 'कृतस्य' उत्कीर्ण है। अत: मालवगण उज्जयिनी से भी सम्बद्ध थे। बी. एन. मुकर्जी के अनुसार ऐजेस ने यह मालव संवत् प्रारम्भ किया जो कृत कहलाया फिर मालव और फिर विक्रम। डी. सी. सरकार इसके प्रवर्तक को वोनोन्स मानते हैं।[26] परन्तु यह मानना कठिन है कि जिन विदेशी लोगों के कारण मालवों को पंजाब से राजस्थान आना पडा उनका ही संवत् उन्होंने ले लिया। वैसे भी अजयमित्र शास्त्री के अनुसार ऐजेस से सम्बंधित

प्रारम्भिक अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि इन अभिलेखों से पूर्व ऐजेस की मृत्यु हो गई थी तथा वोनोन्स के तो अभिलेख भी नहीं हैं और वह पूर्वी ईरान में था।[26] इसीलिए उज्जयिनी में विक्रमादित्य द्वारा शकों का अन्त करने पर उसी के द्वारा प्रवर्तित हुआ इसकी अधिक संभावना है।

एक अन्य साक्ष्य मध्यप्रदेश के उदयगिरि से प्राप्त होता है। यहाँ गुहा क्र. 19 में 1093 अर्थात् 1036–37 ई. में उदयगिरि आने वाले तीर्थयात्री कान्हा का अभिलेख है, जिसके अनुसार चन्द्रगुप्त के शासनकाल में निर्मित इस गुहा का उसने जीर्णोद्धार करवाया था।

इसकी पाँचवीं से आठवीं पंक्तियों का विद्वानों ने अनुवाद किया है, जिसके अनुसार चन्द्रगुप्त द्वारा इसका निर्माण किया गया था। इसके बाद विक्रमादित्य का राज्य आया। '***चंद्रगुप्तेन कीर्तनं कीर्तित: पश्चात् विक्रमादित्य: राज्य:***'

परन्तु इन पंक्तियों का अधिक सटीक अनुवाद यह है कि विक्रमादित्य के राज्य के पश्चात् चन्द्रगुप्त द्वारा इसका निर्माण किया गया। संस्कृत में जिसके पश्चात् बात होती है उसमें पंचमी विभक्ति होती है। यहाँ 'विक्रमादित्य राज्य:' में पंचमी है अर्थात् विक्रमादित्य राजा के पश्चात् चन्द्रगुप्त हुआ, यह अर्थ है। अत: 11वीं शताब्दी तक विक्रमादित्य के राज्य की मान्यता थी।

यह स्पष्ट है कि विक्रमादित्य के तिथि की जो परम्परा जैन पट्टावलियों से मिलती है उस काल में कोई भी समकालीन शक्ति का यहाँ आधिपत्य नहीं था। सिमुक व कृष्ण प्रारम्भिक राजा थे और सातकर्णी प्रथम स्वयं खारवेल से पराजित हो गया था। यद्यपि खारवेल गया और राजगृह तक चला गया था और उत्तरापथ के राजाओं को भी आक्रांत कर उत्तर में मगध तक चला गया था तो क्या कारण था। कि उसी खारवेल ने उज्जयिनी पर आक्रमण नहीं किया क्योंकि यहाँ एक सशक्त राजा विक्रमादित्य था। अब विक्रमादित्य से सम्बंधित सिक्के तथा मुहरें भी प्राप्त हैं। इसलिए इसके अस्तित्व में कोई संशय नहीं रह जाना चाहिये।

पाद टिप्पणी

1. साचाऊ ई., अलबरूनीज इंडिया II पृ. 6।
2. पांडे राजबली, विक्रमादित्य पृ. 27-28।
3. पांडे राजबली, विक्रमादित्य पृ. 26।
4. सरकार डी.सी., एंश्येन्ट मालवा एण्ड द विक्रमादित्य ट्रेडिशन, पृ 116।
5. राजपुरोहित भगवतीलाल, आदि विक्रमादित्य पृ. 14।
6. नवीं सदी, किन्तु डॉ. यू. एन. राय इसे गुप्त काल का ही मानते थे।
7. विमलचंद पाण्डे, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 305।
8. वही।
9. वही।
10. ऐ. के. मजुमदार एवं के.डी. वाजपेयी आदि भी सेंट टॉमस के गुडवर को गोन्डाफर्निस नहीं मानते। वे माविस की अन्तिम

तिथि को 75 ई. पूर्व मानते हैं और गोन्डाफर्निस की तिथि को 45 ई.पू. मानते हैं जबकि डी.सी. सरकार तथा अन्य सभी

विद्वान सेंट टॉमस गुडवर और गोन्डाफर्निस दोनों को एक मानते हैं।

11. इसके पश्चात् ऐसेलाइजेस एवं ऐजेस द्वितीय ने 12 वर्ष और 44 वर्ष तक शासन जिसमें 7 साल सामूहिक शासन था

अर्थात कुल मिलाकर 49 वर्ष शासन किया। इन सभी के शासन का विस्तार बलूचिस्तान, और संभवत: पूर्वी पंजाब तथा पश्चिमी गंधार तक सीमित था।

12. सरकार डी.सी. एंश्येन्ट मालवा एण्ड द विक्रमादित्य ट्रेडिशन, पृ. 67।
13. सरकार डी.सी. सिलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ. 185 टिप्पणी-2, पृ. 186 टिप्पणी-1, पृ 206 टिप्पणी-1।
14. सरकार डी.सी. एंश्येन्ट मालवा एण्ड द विक्रमादित्य ट्रेडिशन, पृ. 68।
15. सरकार डी.सी. एंश्येन्ट मालवा एण्ड द विक्रमादित्य ट्रेडिशन, पृ. 112।
16. सरकार डी.सी. एंश्येन्ट मालवा एण्ड द विक्रमादित्य ट्रेडिशन, पृ. 68।
17. राय चौधरी , पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंश्येन्ट इण्डिया, पृ. 367।
18. गोपालाचारी, के, अर्ली हिस्ट्री ऑफ आन्ध्र कंट्री, पृ. 36।
19. जे.एन.एस. आई. XXXII, पृ. 77-78।
20. गोयल श्रीराम, द क्राइनेज ऑफ एंश्येन्ट इण्डिया, पृ 172।
21. अर्थशास्त्र 2.14.1।

पांडे सुष्मिता अर्थशास्त्र और शिल्पी, शिल्पियों के गौरवशाली इतिहास में पृ. 203, संपादक रामकुमार अहिरवार।

22. वेरार्डी, जियोवानी, क्रोनोलॉजी, पेट्रोनेज एण्ड द क्रेशन्स ऑफ शुंगा आर्ट, पृ. 84 प्राच्य प्रतिभा (एड, बॉय सुस्मिता पांडे)जिल्द XX, 1998-99
23. स्पिन्क, वाल्टर, ऑन द डेवलपमेन्ट ऑफ अर्ली बुद्धिस्ट आर्ट इन इण्डिया, द आर्ट बुलेटिन्स- कॉलेज आर्ट एसोसिएशन ऑफ अमरीका,त्रैमासिक प्रकाशन, पृ. 95-104
24. हन्टिंगटन, सूजन, द आर्ट ऑफ एंश्येंट इण्डिया, पृ. 62.93, प्रकाशन विथीशिल , न्यूयार्क, 1999 तृतीय संस्करण।
25. सरकार डी.सी. एंश्येन्ट मालवा एण्ड द विक्रमादित्य ट्रेडिशन, पृ. 163
26. शास्त्री, अजयमित्र, सम आब्जर्वेशन ऑन द ओरिजिन एण्ड अरली हिस्ट्री ऑफ द विक्रम ऐरा, पृ. 21-2 2 ।प्राच्य प्रतिभा, जिल्द XVIII, 1996-1997।

प्रा.भा.इ.सं. एवं पुरातत्त्व विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

VIKRAMA SAMVAT AND VIKRAMADITYA AS KNOWN FROM ARCHAEOLOGICAL SOURCES

Jai Prakash

The earliest certain appearance of providing a date in an era, though not named, is met with in the Takht-i-Bāhī (Peshāwar Dist., Pakistan) stone inscription[1] of the Indo-Parthian king Gondophornes in which the mention of his regnal year 26 is followed by the mention of the year 103 of an unspecified *samvatsara*. On the strength of the palaeographical features of the Kharōshṭhīs script used in this inscription, and in view of the internal historical evidence, the year 103 has rightly been referred to the Vikrama era of 58 B.C. and the date of the epigraph taken to be 46 A.D. An even earlier dating in this era is perhaps met with in the Mathurā (U.P.) votive tablet inscription[2] of the king śōḍāsa in which the year is mentioned as samvatsara 72 of śōḍāsa (śōḍāsasa samvatsare 70+2). On the assumption that the year 72 is too high for a regnal year, and in view of the fact that palaeographically the inscription in question may be assigned to the beginning of the Ist century A.D., the year has been referred to the Vikrama era and eqated to 15 A.D.

On the above ground that the 78th *samvatsara* mentioned in the Taxila (Rawalpindi Dist., Pakistan) copper plate inscription[3] of patika is too high far being considered as his regnal year it has been referred to the Vikrama era and equated to 21 A.D. Interstingly enough this inscription refers itself to the 5th day of the Macedonian month of Panemos.

For the period immediately preceding the accession of Kanishka we have evidence, though of an unspecified nature, to belive that the Kushāṇas used, as part of the process of their Indianisation, the Vikrama reckoning to which the years 122 and 136 of their Panjtar stone inscription[4] and Taxila silver scroll inscription[5] respectively have been referred to and equated to 65 and 79 A.D.

The system of dating an inscription in a year of continuous reckoning was greatly popularised by the Kushāṇas in the north and by their feudatories, the Western Kshatrapas or the śakas in western India. However, these inscriptions do not specify the name of the era in which their dates are reckoned. In view of known facts of history and also the palaeographical features of these inscriptions, the year given in them are as a rule referred to the śaka era which was founded in all probability in 78 A.D. by the Kushana rule Kanishka I.

The realiest era to be mentioned by name, in north Indian insriptions is the Krita-samvatsara, which is the same as the well known Vikrama era of 58 B.C., having been inaugurated in that year by Pushyamitra[6].

A few important inscriptions may be mentioned below :

1. Year 282----Nandsa (Udaipur Dist., Rajasthan) yupa inscription[7] of Saktiganaguru----Kritayor = dvayor = varsha-satayor = dvyasitayoh 200+82+2 Chaita purnamasyam

2. Year 284-----Barnala (Jaipur Dist. Rajasthan) yupa inscription[8] ---- Krite hi (Kritaih) 200+84+4 chaitra sukla - pakshasya panchadasi

3. Year 295----Badva (Kota dist., Rajasthan) yupa inscription[9] - krite(Krite) hi 200+90+5 phalguna(na) suklasya panche

4. Year 335---Barnala (Jaipur Dist., Rajasthan) yupa inscription[10] - krite hi 300+30+5 Jara (Jyeshtha) suddhasya panchadasi

5. Year 428----Bijaygarh (Bharatpur Dist., Rajasthan) inscription[11] of Vishnuvardhana --- kriteshu chaturshu varsha - satesv = ashtavimseshu 400+20+8 phalguna(na) bahulasya panchadasyam

6. Year 461----Mandasor (Mandasor Dist., M.P.) inscription[12] of Narvarman--- sri-Malav-gan-amanate prasaste krita - samjnite | ekashashty-adhike prapte sama-sate-chatushtaye || dine Amvoja suklasya panchamyanm-atha satkrite

7. Year 493---Mandasor (Mandasor Dist., M.P.) inscription[13] of Kumargupta and Bandhuvarman ---- Malavanam gana-sthitya yate sata-chatushtaye | trinavaty-adhike=bdanam=ritau sevya-ghanastane || sahasyamasa suklasya prasaste=hni trayodase

8. Year 589--- Mandasor inscription[14] of Yasodharman Vishnuvardhana---- panchasu sateshu saradam yateshu=ekonnanavati - sahiteshu | Malava-gana-sthiti-vasat = kala - jnanaya likhiteshu || yasmin..... kusumasamaya - mase

9. Year 794---- Dhiniki (Kathiawar, Gujrat) inscription[15] of Jaikadeva ---- vikrama - samvatsara - sateshu saptasu chatur-navaty - adhikeshu = ankatah 794

10. Year 795 ---- Kanaswa (Kota Dist., Rajasthan) inscription[16] of sivagana----- samvatsara - satair = yataih sa - panchanavaty - argalaih | saptabhir = Malavesanam

11. Year 898 ---- Dholpur (Bharatpur Dist., Rajasthan) inscription[17] of chandamahasena---- vasu-navak-ashtau varsha - gatasya kalasya Vikramakhyasya Vaisakhasya sitayam ravivara - yuta dvitiyam chandre Rohini - samyukte lagne simhasya sobhane yoge

12. Year 936 ---- Gyaraspur (Vidisha Dist., M.P.) inscription[18] ---- Malava - kalach = chharadam shattrimsat - samyukteshv = atiteshu navasu sateshu madhav = iha

13. Year 973 ---- Bijapur (Jodhpur Dist., Rajasthan) inscription[19] of Rashtrakuta Vidagdharaja ---- rama - giri - kalita Vikrama - kale gate tu suchi mase

14. Year 1103 ---- Tilakwara (Narmada Dist., Gujrat) inscription[20] of Yasoraja ---- vatsarair = Vikramadityaih satair = eka - dasais=Tatha | try - uttaraih

From the above inscriptions we gather that the earlier record bearing dates in

Vikrama era naturally do not address it by a specific name. The earliest inscription that has a name (i.e. Krita) for the reckoning has been discovered in Rajasthan. Nandsa yupa inscription of Saktiganaguru dated Krita 282 (226 A.D.) is the earliest epigraph. In the 5th century A.D. the era is called 'the era of the Malava lord or lords'. The earliest use of the word Vikrama is occurring in Dholpur (Bharatpur Dist., Rajasthan) inscription of Chandamahasena dated 898 (841 A.D.).

Merutunga's Theravali and Kalakacharya's narrative about the kingdom of Ujjayini have definite historical backgroud. The tradition about Vikramaditya is a long and complete story in definite historical setting, and not a mere vague statement that he defeated the Sakas and founded an era. To regard one or other later historical king as the Vikramaditya of tradition simply because he defeated the Sakas or gave patronage of learning can not be justified.

Earlier there was no genuine evidence to prove the existence of king Vikramaditya in the 1st. century B.C. or before the 4th century A.D. But with the discovery of archaeological evidences referred to below the state of things changed.

Recently some archaeological evidences regarding Krita, Vikrama or Vikramaditya have come to light. Some of them are mentionable here.

A terracotta sealing[21] discovered form gadakalika (Ujjain, M.P.) published by Dr. V.S. Wakankar with the legend katasa Ujeniya (in Skt . Kritasya Ujjayini) in Prrakrit language and Brahmi characters of about the 1st century B.C.

Another terracotta sealing[22] preserved in the collecton of Dr. V.S. Wakankar Sodh Samsthan, Ujjain having the legent Kutasa (in Skt. Kritasya) in Prakrit language and Brahmi characters of the 1st century B.C. .It is interesting to note here that the seal with legend kutasa is palaeographically in date earlier than the seal containing the legend Katasa Ujeniya.

A rare gold coin[23] (circular in shape bears) on the obverse the bust of king Vikramaditya and on the reverse the legend Raja Vikramaditya Ujeniya (in Skt. Raja Vikramaditya Ujjayini) in Brahmi characters of about the 1st century B.C., tree in railing, crescent on hill and standing horse and elephant.

Anvalesvar (Mandsor Dist., M.P.) monolithic stone pillar inscription[24] datable to about the 1st century B.C. mentions Vikramaditya, Jalasaya and use of its water by public.

A copper coin[25] (circular in shape) on the obverse contains twelve spokes wheel and on the reverse reads Vikrama in the centre and parvatandra kadasa (in Skt. Parvatendra Kritasya) in Brahmi characters of about the 1st century B.C. . It indicates that Krita and Vikrama are one and the same personage or king.

Vikrama was an epither/another name of Krita. Parvatendra was his epithet as he was a king of Vindhya mountain.

The importance of these records lies in the fact that they refer to king Vikramaditya and they frunish the first numismatic and epigraphical mention of Vikramaditya of Ujjayini in the 1st century B.C.

A copper seal[26] (circular in shape) with the legend Rajno katasa Ujeni (in Skt. Rajnah Kritasya Ujjayini) engraved in Brahmi characters of about the 3ed - 4th century A.D. . It contaions four makara symbols within a cross and five doted below. It is interesting to note here that Kutasa (Kritasya) figured in the terracotta sealing of 1st century B.C. described above in the collection of V.S.Wakankar Sodh Samsthan and Katasa (kritasya) mentioned in the rare copper seal of about the 3ed - 4th century indicate that there were two kings bearing the name krita in Ujjain, Kuta (Krita I) and Kata (Krita II).

Under these circumstances, the discovery of two terracotta sealings, a rare gold coin, a copper coin and a stone inscription in the Ujjain region is undoubtedly of unique importance. And stated above, they establish the existance and historicity of king vikramaditya of Ujjayini in the 1st century B.C. . But it must be noted that they do not solve the problem as that who founded the Vikrama era in 58 B.C. till further evidence is made available.

NOTES AND REFERENCES

1. Ep. Ind. Vol.XVIII, pp.261-82 and pl.
2. Ibid Vol. II p. 199 and pl.
3. Ibid Vol. IV, pp.54-57 abd pl.
4. Ibid Vol. XIV p. 134
5. Ibid pp.-284-95 and pl.
6. C.I.I. Vol. III (Revised edn., 1981), Introduction, pp.197-99
7. Ep. Ind. Vol. XXVII pp.252 ff.
8. Ibid Vol. XXVI p. 119
9. Ibid Vol. XXIII p. 52
10. Ibid Vol. XXVI p. 121
11. Bhandarkar;s list , No. 2
12. Ep.Ind. Vol. XII p. 320
13. C.I.I. Vol. III (old) p. 81
14. Ibid p. 192
15. Bhandarkar's list No. 17. Some scholars consider the record as spurious one.
16. Ind. Ant. Vol. XIX p. 59
17. Bhandarkar;s list No. 27
18. Ibid No. 48
19. Ibid No. 63
20. Ibid No. 128

21. Bhagawatilal Rajpurohit (editor) The vikramaditya and Archaeology, Maharaja Vikramaditya Sodhaputh, Ujjain p. 18
22. Op cit p. 19
23. The Vikramark, Vol.I March - August 2013 p. 10
24. Bhagawatilal Rajpurohit (editor) The Vikramaditya and Archaeology, Maharaja Vikramaditya Sodhpith, Ujjain pp. 14-15
25. Op cit p. 18
26. Op cit p. 20

Deputy Superintending Epigraphist,
Archaeological Survey of India,
Northen Zone, Baillie Guard cottage
Premises, Golaganj,
Lucknow - 226018 (U.P.)

राजा विक्रमादित्य अस्तित्व मराठी संत साहित्य के माध्यम से

शशिकांत लिमये

भारतीय पुरातन परम्परा के अनुसार सात मोक्ष पुरियाँ भारत वर्ष में सर्वमान्य हैं। संस्कृत श्लोक – अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका, पुरी द्वारावती चैव सप्तैते मोक्ष दायिका:।

क्षिप्रा नदी के किनारे अवंतिका अर्थात् उज्जयिनी, महाकाल की नगरी के नाम से विख्यात है। गोप बालक की शिव भक्ति के कारण स्वयं भगवान शिव ने अपने आत्मलिंग को अवंतिका नगरी में स्थापित किया था। इस कारण उज्जैन को मोक्ष प्राप्ति का स्थल माना गया है। इस नगर की विशेषता यह है कि यहां पर एक वेधशाला कर्क रेखा पर स्थित है, कर्क राशि पर स्थित पुष्य नक्षत्र सत्ताईस नक्षत्रों में सर्वश्रेष्ठ नक्षत्र माना गया है। जिसका सूर्य, बृहस्पति और चंद्र ग्रह से सीधा संबंध है। पुष्य नक्षत्र का स्वामी शनि है इस कारण यह स्थायी नक्षत्र होने के साथ साथ अत्यंत शुभ माना जाता है। इस नक्षत्र पर इन ग्रहों के दिनों का होना शुभ योग माना जाता है। यही कारण है कि उज्जयिनी नगरी को मोक्षपुरी माना गया है। महाकाल के साथ–साथ यहां पर भगवान बृहस्पति, शनिदेव, भगवान चिंतामण गणेश, सतीरूपा गढ़कालिका और काल भैरव उपस्थित हैं। पृथ्वी पुत्र मंगल का यहां पर मंदिर है जो कि कर्क रेखा पर स्थित है, साथ ही भगवान श्रीकृष्ण के गुरु सांदीपनि ऋषि का आश्रम भी स्थित है। ऐसी मंगल भूमि पर 57 बी.सी. में महाराजा विक्रमादित्य द्वारा स्वयं के राज्याभिषेक के अवसर पर विक्रम संवत् को आरंभ किया था। इस कारण महाराजा विक्रमादित्य का इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है।

प्राचीन ग्रंथों में महाराजा विक्रमादित्य को न्यायप्रिय, ज्ञानी और विद्वानों के रक्षक के रूप में याद किया जाता है।

भविष्यपुराण के अनुसार महाराजा विक्रमादित्य प्रथम महान हिन्दू शासक के रूप में माने जाते हैं। तदनुसार वह गंधर्वसेन के पुत्र थे जिनके जन्म पर ईश्वर द्वारा पुष्प वर्षा की गई थी। अपने उम्र के पांचवें वर्ष वह तपस्या के लिए चले गये थे। वहीं पर देवी पार्वती (कालिका देवी) द्वारा उनकी सहायता के लिए वेताल को भेजा गया था और इंद्र द्वारा उन्हें एक सिंहासन प्राप्त था। जिस पर बैठकर उन्होंने रंभा और उर्वशी के बीच हुए विवाद की परीक्षा कर निर्णय दिया था। किंवदंतियों के अनुसार उन्होंने 1000 वर्ष तक शासन किया। (भविष्य पुराण के प्रतिसर्ग पर्व में यह उल्लेख है) पैठण (प्रतिष्ठान) के शासक विक्रमादित्य द्वारा किये गये यज्ञ में सभी देवता उपस्थित हुये थे। परंतु भगवान चंद्रदेव इस यज्ञ में उपस्थित नहीं हुए थे। तब चंद्रलोक जाकर विक्रमादित्य ने उनसे पूछा कि वह यज्ञ में उपस्थित क्यों नहीं हुये ? इस पर चंद्रदेव ने कहा – ''यह कलियुग है, कलियुग में देवताओं का पृथ्वी पर आना ठीक नहीं।''अतः मैं उपस्थित नहीं हो सका।

विक्रमादित्य के बारे में ऐतिहासिक तथ्य और प्रमाण प्राप्त नहीं होते परंतु उनका अस्तित्व सर्वमान्य है। कथासरित्सागर के वेतालपच्चीसी और सिंहासनबत्तीसी जैसे ग्रंथों द्वारा राजा विक्रमादित्य की कार्यशैली एवं उनकी महानता को समझा जा सकता है। उनका शासन एक आदर्श शासन था जिसमें न्याय, प्रजावत्सलता, शौर्य और कल्याण की भावना व्याप्त थी। सिंहासन बत्तीसी के अनुसार राजा विक्रमादित्य बत्तीस पुतलियों द्वारा संभाले गये विराट सिंहासन

पर विराजमान होकर न्याय किया करते थे। उनका न्याय सटीक राष्ट्र धर्म के अनुसार जनहित में हुआ करता था। इसी कारण लगभग 2000 वर्ष बीत जाने के पश्चात् भी विक्रमादित्य जनता के हृदय में विद्यमान हैं।

राजा विक्रमादित्य के दरबार में नौ विद्वान मंत्री थे जो अपने अपने विषय के विद्वान् थे। जिनके नाम धनवंतरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, घटकर्पर, कालिदास, वेतालभट्ट, वररुचि और वराहमिहिर थे। जिसमें अमरसिंह द्वारा रचित अमरकोश, कालिदास द्वारा रचित अभिज्ञान शाकुंतलम्, विक्रमोर्वशीयम्, रघुवंशम्, मेघदूतम् इत्यादि प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। उनके साथ के एक और विद्वान ब्राह्मण माघ थे। क्षपणक ज्योतिषीय विज्ञान के ज्ञाता थे, धन्वंतरि आयुर्वेद के ज्ञाता थे, वररुचि भाषांतर एवं व्याकरण के ज्ञाता थे, वराहमिहिर ज्योतिष् विज्ञान के ज्ञाता थे, घटकर्पर उनके समय के भवन निर्माण और वास्तु के विद्वान थे। शंकु के द्वारा भौगोलिक स्थिति का जायजा लिया जाता था एवं वेतालभट्ट काला जादू और तंत्र विज्ञान के ज्ञाता थे। ये सारे विद्वान विक्रमादित्य के दरबार के नवरत्न के रूप में जाने जाते हैं।

भविष्यपुराण के अनुसार गंधर्वसेन ने 50 वर्ष तक शासन किया, उनके बाद वह अपने पुत्र शंकर राजा को राज्य देकर चले गये परंतु शंकर राजा की अल्पायु में मृत्यु हुई इसलिए गंधर्वसेन को पुनः शासन पर प्रतिस्थापित होना पड़ा उसके पश्चात् उनके दूसरे पुत्र विक्रमादित्य शासन पर बैठे।

वेतालपच्चीसी में विक्रमादित्य को वेताल द्वारा 25 कहानियां एवं सिंहासनबत्तीसी में लगभग 32 कहानियां विद्यमान हैं जो कि भोजराज को सिंहासन पर बैठते समय सुनाई गई थीं। जिसमें राजा विक्रमादित्य की विद्वत्ता सारगर्भिता और शासन व्यवस्था के प्रति दायित्व का संदर्भ मिलता है। राजा विक्रमादित्य के द्वारा नवग्रहों में शनि के अस्तित्व को महत्वपूर्ण दर्शाया गया है, क्योंकि शनि सूर्य पुत्र हैं और वह सही और गलत की समझ मनुष्य को देते हैं। तद्नुसार ग्रहों में शनि का महत्व अधिक है। शनि के कारण ही कथानुसार राजा विक्रमादित्य को अपने शासन से पलायन करना पड़ा था और लगभग 5 वर्ष तक वह अपने राज्य सिंहासन से दूर रहे थे जिसके लिए शनि की साढ़ेसाती की पीड़ा उत्तरदायी थी।

राजा विक्रमादित्य के द्वारा विक्रम संवत् की स्थापना ईसा पूर्व 57 वर्ष में की गई थी। एक कथानुसार दीपावली के दिन राजा विक्रमादित्य ने अपना राज्यारोहण किया था। इसी दिन से विक्रम संवत् की स्थापना की गई थी। राजा विक्रमादित्य के समय नाथ पंथ के भर्तृहरिनाथ भी विद्यमान थे जिन्हें संन्यास दीक्षा गुरु गोरक्षनाथ द्वारा दी गई थी एवं भगवान दत्तात्रेय का अनुग्रह प्राप्त हुआ था। राजा विक्रमादित्य अपने न्याय के कारण जिन्हें राजा भर्तृहरि का भाई माना गया है, विश्व के महान शासकों में माने जाते हैं। विक्रमादित्य के कारण ही उज्जयिनी को पुण्यनगरी कहा जाता है।

राजा विक्रमादित्य के जन्म के संदर्भ में मान्यताएँ :–

भर्तृहरि आख्यान के अनुसार इंद्र की सभा में मेनका का नृत्य चल रहा था। वहां पर सुरोचन गंधर्व उपस्थित थे। जिन्होंने मेनका के साथ अभद्र व्यवहार करने के कारण इन्द्र द्वारा उन्हें शाप दिया कि तुमने इस सभा के अंदर एक गर्दभ (गधा) की तरह व्यवहार किया है इसलिए तुम्हें मृत्युलोक में जाकर गर्दभ (गधा) का जन्म मिलेगा। शापित होने पर सुरोचन गंधर्व को अपनी गलती का अहसास हुआ और उन्होंने देवराज इंद्र से क्षमा मांग ली। इस पर देवराज इंद्र ने कहा – मथुरा नरेश सत्यवती के साथ तुम्हारा विवाह होगा और उसके पुत्र विक्रमादित्य के जन्म के बाद तुम्हें पृथ्वीलोक से मुक्ति

मिलेगी और तुम पुनः स्वर्गलोक की ओर प्रस्थान करोगे। यही विक्रम आगे चलकर उज्जयिनी का नरेश राजा विक्रमादित्य हुआ। इंद्र के शाप से गंधर्व सुरोचन गधे के रूप में पृथ्वी पर उपस्थित हुआ। मथुरा के जंगलों में कर्मठ नाम के एक कुम्हार द्वारा उसे देखा गया जो उसे अपने गधों की टोली के साथ हांककर अपने घर ले आया। कर्मठ कुम्हार अत्यंत दरिद्री था अपनी आर्थिक स्थिति को ठीक करने के लिए उसने अपने सारे गधों को बेच दिया और एक मात्र गधा जो कि शापित सुरोचन गंधर्व था, उसे अपने साथ रख लिया। कालांतर में रात्रि के समय कर्मठ कुम्हार का गधा मनुष्य की आवाज में कर्मठ कुम्हार से मांग किया करता था कि मथुरा नरेश राजा सत्यवर्मा की कन्या से मेरा विवाह करा दें। कर्मठ कुम्हार घबरा गया कि यदि यह बात राजा के कान पर पहुंची तो उसका जीना हराम हो जायेगा तथा नगर में रहने के लिए उसे स्थान नहीं मिलेगा। क्रोध में आकर कुम्हार ने गधे को अनेक प्रताड़नायें दीं परंतु उसकी यह रात्रिकालीन गतिविधियां निरंतर जारी रहीं। अंत में कर्मठ कुम्हार ने फैसला किया कि वह राजा सत्यवर्मा के नगर से दूर रहेंगे ताकि यह खबर राजा के पास न पहुँचे। उसने नगर से पलायन करने के लिए अपना सारा सामान बांध कर नगर के बाहर रहने लगा। जब नगर रक्षकों द्वारा, उससे पूछा गया कि वह नगर के बाहर क्यों रहना चाहता है तो कर्मठ कुम्हार द्वारा उचित उत्तर न देने के कारण नगर रक्षकों ने फैसला किया कि इस कुम्हार को राजा सत्यवर्मा के पास प्रस्तुत किया जाए। राजा सत्यवर्मा के पास नगर रक्षकों ने कर्मठ कुम्हार को प्रस्तुत किया तब राजा ने कर्मठ कुम्हार से पूछा कि किन कारणों से तुम यह नगर छोड़कर जा रहे हो ? इस पर कुम्हार ने राजा से कहा कि ''मुझे आपकी व्यवस्था एवं शासन प्रणाली से कोई शिकायत नहीं है, मैं जो कहना चाहता हूँ, वह एकांत में ही कह सकूंगा। सबके बीच में बताने लायक मेरे पास कुछ भी नहीं है। यदि आप मुझे जीवनदान देते हैं, और साथ ही आप वचन दीजिए कि आप मुझे प्रताड़ित भी नहीं करेंगे तो ही मैं अपने नगर से बाहर जाने का कारण बता सकूंगा।'' राजा ने कर्मठ कुम्हार की मांग को स्वीकार कर लिया और उसे एकांत में ले जाकर उसकी बात सुनी। कर्मठ कुम्हार ने बताया कि ''महाराज मैं सच कह रहा हूँ कि मेरा यह गधा रात्रि के समय मनुष्य की वाणी में जोर जोर से मांग करता है कि राजा सत्यवर्मा की पुत्री के साथ मेरा विवाह कर दीजिए। इसकी यह वाणी मुझे असमंजस में डाल रही है साथ ही मुझे यह डर लगता है कि अगर कोई अन्य इसे सुन लेगा तो यह अत्यंत हमारे लज्जा का विषय है कि राजकुमारी से विवाह के लिए एक गधा इतना आतुर है।'' राजा की गंभीर मुद्रा देखकर कर्मठ कुम्हार डर गया था। परंतु धीर गंभीर राजा ने सोचा कि यह कोई देवता तो नहीं है? जो मेरी परीक्षा ले रहा है ? उसने कर्मठ कुम्हार से कहा कि तुम अपने घर जाओ और जब यह रात को पुनः मांग करे कि मेरा विवाह सत्यवर्मा की पुत्री सत्यवती से करा दिया जाये तब उससे यह कहना कि मैंने तुम्हारी बात राजा तक पहुँचा दी है। परंतु राजा ने इसके लिए एक शर्त रखी है कि तुम उसकी नगरी मथुरा को ताम्बे की बना दोगे। तभी सत्यवती के साथ तुम्हारा विवाह संभव होगा। यदि नहीं कर सकते तो भूल जाओ कि राजा की पुत्री से तुम्हारा विवाह हो जायेगा।

राजा के अभयदान के कारण कुम्हार अपने गधे और पत्नी के साथ पुनः अपने घर लौट आया। रात हुई तो फिर रात में गधा पुनः बोल पड़ा कि मेरी शादी सत्यवती से करा दो। उसने कर्मठ कुम्हार से पूछा कि राजा से कुछ चर्चा हुई क्या ? कुम्हार ने बाहर आकर गधे के कान में कहा मैंने महाराज सत्यवर्मा तक तुम्हारी बात पहुँचा दी है। यदि तुम मथुरा नगरी को ताम्बे की बना दोगे तो राजा सत्यवती के साथ तुम्हारा विवाह कर देगा। इस पर गधे ने कहा कि सत्यवर्मा राजा ने मथुरा को

सोने की नगरी बनाने को कहा होता तो ज्यादा अच्छा था। अब उन्हें ताम्बे की नगरी से ही संतोष करना पड़ेगा। उसने कुम्हार से कहा आप सो जाईये और सुबह देखिए। रात में गर्दभ रूपी सुरोचन गंधर्व ने विश्वकर्मा का आह्वान कर मथुरा को तांबे का कर देने का निवेदन किया।

सुबह लोगों ने देखा कि सारा मथुरा नगर ताम्रवर्णी हो गया है। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। कुम्हार जब राजा से मिलने गया, तब राजा ने कहा कि तुम्हारे गधे ने मेरी मांग पूरी कर दी है, मैं अपनी पुत्री का विवाह तुम्हारे गधे के साथ करने के लिए तैयार हूँ। कहते हैं कि सुरोचन गंधर्व के निवेदन पर विश्वकर्मा ने अपनी दृष्टि से रात भर में पूरी नगरी को तांबे की बना दिया था। राजा सत्यवर्मा ने सुरोचन गंधर्व से गर्दभ रूप में सत्यवती के साथ विवाह कर दिया और कहा कि तुम सत्यवती को लेकर कहीं भी रहो। इस पर कुम्हार ने कहा कि मैं विवाह पश्चात् नगर को छोड़ दूंगा। कुम्हार ने इस विवाह के पश्चात् मथुरा नगर छोड़ दिया और वह अपनी पत्नी सत्यवती और गधे के साथ उज्जयिनी आ गया। परंतु सुरोचन गर्दभ रूप में अपनी पत्नी से किसी प्रकार की बातचीत नहीं करता था। तब सत्यवती ने उससे कहा आप मेरे पति हैं मेरी और आपकी जोड़ी कैसे जमेगी ? उस समय गर्दभ ने सत्यवती से कहा – मैं गर्दभ रूप से ही तुम्हारी सारी इच्छायें पूरी करूंगा। एक रात्रि को गधे ने गंधर्व रूप धारण किया और अपनी पत्नी सत्यवती को अपने गंधर्व रूप को दिखाया। गधे के इस रूप को देखकर सत्यवती उस पर मोहित हुई। सुरोचन गंधर्व ने उससे कहा कि प्रिये तुम्हारा पुत्र जब मैं देख लूंगा तब इस गर्दभ रूप को त्याग कर स्वर्ग की ओर प्रस्थान करूंगा। बाद में सत्यवती ने एक सुंदर बालक को जन्म दिया। जब गधे को उस बालक के दर्शन कराये गये उसी समय इन्द्र ने अपने सारथी मातली से कहा कि सुरोचन गंधर्व को स्वर्गलोक में ले आईये। सुरोचन गंधर्व मातली के साथ गंधर्वलोक चला गया। बाद में कुम्हार के घर ही उस बालक विक्रम का लालन पालन हुआ और वह राज सेवा में कर वसूली के कार्य में संलग्न हो गया। यही विक्रम बाद में राजा विक्रमादित्य हुआ। (धुन्डी पुत्र मालू कवि द्वारा रचित् नवनाथ भक्तिसार कथा अध्याय 25 एवं 26)।

राजा विक्रमादित्य भर्तृहरिनाथ को अपना भाई मानते थे। भर्तृहरिनाथ के जन्म के विषय में नवनाथ भक्तिसार के 27 वें अध्याय में यह कथा प्रचलित है – इंद्र की अप्सरा उर्वशी शाम के समय आकाश मार्ग से जा रही थी उसी समय सूर्य भगवान का तेज दो भागों में विभक्त होकर लोमश ऋषि के आश्रम में एक मटके में गिरा। उससे अगस्त्य ऋषि का जन्म हुआ और दूसरा भाग कौलिक ऋषि के आश्रम में उनके भिक्षापात्र में गिरा। उस भिक्षापात्र का नाम भर्तरी था। ऋषि कौलिक के आश्रम में वह भर्तरी वैसे ही रखी रह गई जब ऋषि कौलिक कलियुग के आने पर भर्तरी को लेकर मंदार पर्वत की ओर प्रस्थान करने लगे तो रास्ते में उन्होंने उसे एक गुफा के अंदर रखा और वे आगे की ओर निकल गये। मधुमक्खियों ने भर्तरी में अपना घर बना लिया उसी समय सूर्य तेज से विद्यमान ध्रुमीनारायण ने उस भर्तरी में प्रवेश किया। मधुमक्खियों के छत्ते के कारण वह भर्तरी बहुत बड़ी हो गई और वह भिक्षापात्र अपने आप फूट गया जिसमें से बालक भर्तृहरि का जन्म हुआ। वह गुफा में से बाहर निकला वहां तो मादा हिरण ने दो बच्चों को जन्म दिया था। मादा हिरण ने भर्तृहरि को दूध पिलाने का प्रयास किया परंतु वह पी न सका। परंतु माँ माँ ही होती है बड़े प्रयत्न से उसने भर्तृहरि को दूध पिलाया। धीरे – धीरे भर्तृहरि बड़ा हुआ वह पशुओं की भाषायें समझने लगा और उन्हीं की भाषा में उत्तर भी देने लगा। उसी जंगल में जयसिंह

नाम का एक भाट अपनी पत्नी के साथ मे विचरण कर रहा था इस बच्चे को देखकर उन्होंने उसके माँ की तलाश की परंतु कोई नहीं मिला। उसने मादा हिरण और उसके बच्चों को दूर भगा दिया और गाँव में आकर पूछने लगा कि यह बालक किसका है ? परंतु पता न लगने पर वह उस बालक को अपने साथ रखने को तैयार हो गया क्योंकि वह स्वयं भी निःसंतान था।

इस घटना से मादा हिरण अत्यंत दुःखी हुई। बालक की भाषा जयसिंह भाट और उसकी पत्नी नहीं समझ सके क्योंकि वह पशु पक्षियों की भाषा में ही बोलता था। वह हिरण की भाषा बोल रहा था। जयसिंह भाट उसे लेकर काशी यात्रा के लिए गया

वहां पर वह काशी विश्वेश्वर के मंदिर में भर्तृहरि नाथ को दर्शन के लिए ले गया तब स्वयं भगवान् शंकर ने उस बालक को कहा भर्तृहरिनाथ स्वागत है आपका इस पृथ्वी पर। यह सुनकर जयसिंह को लगा कि यह अवतारी पुरुष है। शिवजी द्वारा जिस नाम से पुकारा गया उसी नाम से जयसिंह भाट उसे पुकारने लगा। वापसी के समय जयसिंह और उसकी पत्नी रेणुका को डाकुओं के द्वारा मार दिया गया और उन्हें लूट लिया गया। बालक भर्तृहरिनाथ केवल सोलह वर्ष के थे उसी जंगल से एक व्यापारियों का दल निकल रहा था व्यापारियों का दल जो वहां से निकल रहा था, भर्तृहरिनाथ उसमें शामिल हो गये। व्यापारियों ने भर्तृहरिनाथ के व्यवहार के कारण उन्हें अपने साथ रख लिया और स्थान–स्थान पर व्यापार करते हुए यह दल अवंतिका नगरी की ओर निकल पड़ा

भर्तृहरिनाथ को पशु पक्षियों की भाषा का पूर्ण ज्ञान था। जिसके कारण वह व्यापारियों पर आने वाले संकट को समय–समय पर बताते थे। व्यापारियों का दल जब अवंती नगरी में था उस समय लोमड़ियों की आवाज़ सुनकर भर्तृहरिनाथ ने व्यापारियों को बताया कि यहां से एक बहुत बड़ा राक्षस उत्तर दिशा की ओर से दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान करेगा, वह चित्रमा गंधर्व है जो कि शिवजी के द्यूतक्रीडा के समय पार्वती द्वारा शापित हुआ है। यदि इस राक्षस को मारकर रक्त का टीका जो व्यक्ति अपने माथे पर लगा लेगा वह राजा बनेगा। व्यापारियों और भर्तृहरिनाथ की चर्चा विक्रम द्वारा सुनी गई वह राजस्व वसूली का कार्य किया करता था। उसने यह भी सुना कि उस राक्षस के पास चार रत्न है। राजा विक्रम ने चित्रमागंधर्व (राक्षस) के साथ युद्ध किया और राक्षस को युद्ध में परास्त कर मार दिया। विक्रम ने अपने माथे पर जैसे ही टीका लगाया तो चित्रमागंधर्व प्रकट हुये और आकाश मार्ग से स्वर्ग की ओर चले गये। राक्षस के प्रेत को विक्रम ने तलाश किया तो उससे चार रत्न प्राप्त हुये जिनके नाम – चिंतामणी, कामद, वैडुली और हीरा थे।

यह प्राप्त होने के बाद विक्रम ने व्यापारियों से पूछताछ की तलाशी ली और सभी से पूछा कि मेरा नाम विक्रम है यह आपको किसने बताया ? तब व्यापारियों ने भर्तृहरिनाथ की ओर इशारा किया कि इस लड़के को पशु पक्षियों की भाषा आती है। वह अपना नाम भर्तृहरि बताता है। इसी के द्वारा हमें आपका नाम ज्ञात हुआ। भर्तृहरि और विक्रम हम उम्र होने के कारण उनकी मित्रता हो गई। विक्रम जकात वसूली का कार्य करते थे और उसका हिसाब भर्तृहरिनाथ रखते थे। उसी समय अवंतिका नगरी का राजा शुभ विक्रम नाम के राजा अवंती नगरी पर राज्य करते थे। उनकी कन्या सुमेधा विवाह योग्य थी। राजा ने अपने मंत्री से कहा कि मेरी पुत्री विवाह योग्य हो गई है इस पर मंत्री ने राजा को प्रत्युत्तर दिया राज्य की और कुल की परंपरा के अनुसार हाथी के सूंड में माला देकर उसे नगर में भ्रमण कराईये वह हाथी जिसके गले में माला पहना देगा उसी के साथ आपकी पुत्री का विवाह होगा। दूसरे ही दिन एक हाथी के सूंड में माला देकर उसे नगर में घुमाया गया। जब हाथी नगर

में परिक्रमा दे रहा था उसकी दृष्टि विक्रम पर पड़ी और हाथी ने अपनी सूंड की माला विक्रम के गले में पहना दी। राजा के सभासद उसे लेकर राजा के पास गये। राजा ने उसका नाम पूछा उसने अपना नाम विक्रम बताया।

भर्तृहरि ने कर्मठ कुम्हार को यह घटना सविस्तार से बतायी। कर्मठ कुम्हार ने राजा को बताया कि यह मेरा पुत्र नहीं है। यह सत्यवती का पुत्र है जो कि मथुरा नरेश सत्यवर्मा की पुत्री है। शुभविक्रम राजा को उसके पिता के बारे में जानकारी नहीं मिल रही थी वह बड़े ही असमंजस में थे तब राजा सत्यवर्मा ने स्वयं आकर स्पष्ट किया कि सुरोचन गंधर्व ही विक्रम का पिता है। राजा शुभविक्रम ने सारी बातें ज्ञात होने के बाद अपनी पुत्री का विवाह विक्रम के साथ कर दिया। शुभ विक्रम राजा का कोई पुत्र न होने
के कारण अवंतिका नगरी का राज्य विक्रम को प्राप्त हुआ। इसी के साथ मथुरा नगरी के राजा सत्यवर्मा ने भी अपना राज्य विक्रम को दिया। भर्तृहरि को राजा बनने के बाद भी राजा विक्रम न भूल पायें। उन्होंने भर्तृहरिनाथ को युवराज पद से विभूषित किया। तब सुमंत प्रधान ने राजा विक्रम से निवेदन किया है कि वह अपनी पुत्री पिंगला का विवाह भर्तृहरिनाथ से करना चाहता है। इस समय तक जाति प्रथा की जड़ें बहुत मजबूत हो गई थीं। राजा विक्रम को भर्तृहरि के माता पिता की कोई जानकारी नहीं थी। भर्तृहरि ने अपनी सारी कथा सुमंत मंत्री को बताई, परंतु पिता के प्रश्न पर सुमंत अभी भी धर्म संकट में थे। तब भर्तृहरि ने अपने पिता का आह्वान किया। उसके आह्वान पर मित्रावरुण ने उसे दर्शन दिये और सुमंत को स्पष्टरूप से बताया कि यह मेरा पुत्र है। उसने मंत्री सुमंत से कहा कि भर्तृहरि और विक्रम दोनों ही महात्मा है। प्रजाजन के कल्याण के लिए ही इनका जन्म हुआ है। भर्तृहरि को अपनी पत्नी पिंगला बहुत प्रिय थी। अगस्त्य और भर्तृहरि के बीच मित्रा वरूण ने तुलनात्मक अध्ययन किया और उसे लगा कि उसका पुत्र भर्तृहरि भोग विलास में लिप्त है। मित्रावरुण ने भगवान् दत्तात्रेय से भेंट कर वस्तुस्थिति से अवगत कराया। इस पर भगवान् दत्तात्रेय बोले कि अभी अवसर नहीं आया है। बारह वर्ष पश्चात् भर्तृहरि स्वयं संन्यास धर्म का पालन करेगा। कालचक्र ने भर्तृहरि नाथ को वैसे ही बुद्धि दी। वन में आखेट के दौरान उन्होंने अपने वस्त्र उतार कर हिरण के रक्त से भिगोकर अपनी मृत्यु का समाचार अवंतिका नगरी के राज महल में पहुँचा दिया। उस समाचार को सुनकर तथा उन वस्त्रों को देखकर दुःखी पिंगला ने प्राण त्याग दिये। जब भर्तृहरिनाथ अवंतिका नगरी लौटकर आये तो लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। राज महल से उन्हें पिंगला के मृत्यु की जानकारी मिली थी। तब वह पिंगला–पिंगला करते हुए श्मशान में रह गये। बारह वर्ष तक पिंगला की याद में भर्तृहरिनाथ ने श्मशान में बिताये। गोरक्षनाथ ने जब भर्तृहरिनाथ की इस दयनीय अवस्था को देखा तो उन्होंने उनका मोहभंग किया और उन्हें संन्यास दीक्षा प्रदान की।

गोरक्षनाथ उन्हें गिरनार पर्वत की ओर ले गये वहां उन्होंने भर्तृहरिनाथ को ध्यान, साधना एवं अस्त्रशस्त्रों की शिक्षा प्रदान की। गोरक्षनाथ के साथ जाते समय राजा विक्रम ने उन्हें बिदा किया था। भर्तृहरिनाथ ने अवंतिका नगरी से ही भर्तृहरि गुफा के स्थान से स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया था। नाथ परंपरा के कालखण्ड के अनुसार भर्तृहरिनाथ का कालखण्ड लगभग 2000 वर्ष पूर्व का है। तदनुसार विक्रमादित्य यही वह राजा है जो सुरोचन गंधर्व का पुत्र था जिसने कुशलता पूर्वक अवंतिका नगरी पर शासन किया था। (धुन्डी पुत्र कवि मालू द्वारा रचित नवनाथ कथा अध्याय 25 से 30 तक)।

ऐतिहासिक तथ्य –

ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में उत्तर पश्चिमी भारत से यूनानी शासन का अंत हो गया था। उसके स्थान पर शक नाम की एक अन्य विदेश जाति भारत में अपना अधिपत्य जमाने लगी थी। गार्गी संहिता में शकों के आक्रमण एवं उनके मथुरा प्रदेश पर अधिपत्य मिलता है। इसी समय भारत में छोटे –छोटे राज्य स्थापित थे जिन्हें छत्रप कहा जाता है। इन छत्रपों में अवंतिका के छत्रप विक्रमादित्य का नाम भी आता है।

इतिहासकार स्टेनकोनू का मत है कि राजा विक्रमादित्य ने ईसा पूर्व 59 में मालवा में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था। उस समय मालवा क्षेत्र में शकों का प्रादुर्भाव था। राजा विक्रमादित्य ने शकों को मालवा क्षेत्र से मथुरा के ऊपरी क्षेत्र तक वापस
जाने के लिए मजबूर कर दिया था। (श्री विमलचन्द्र पाण्डेय की प्राचीन भारत का राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास के पृष्ठ संख्या 578 में उल्लेखित है)

अवंतिका ज्योतिष केन्द्र और राजा विक्रमादित्य – (शनि माहात्म्य से)

पुण्य नगरी अवंतिका कर्क रेखा पर स्थित है। कर्क रेखा पर स्थित होने के कारण इस नगरी का ज्योतिष के क्षेत्र में अत्यंत महत्व है। यही कारण है कि यहां के शासकों का ज्योतिष के प्रति अत्यंत रुझान रहा है।अवंतिका नगरी में प्राचीन वेधशाला है। जहां पर पारंपरिक रूप से ज्योतिष की प्राचीन परंपरा के अनुसार कालगणना और ग्रहों की गति का अध्ययन आज भी किया जाता है। राजा विक्रमादित्य के समय भी ज्योतिष के ऊपर अनेकों चर्चायें एवं परिसंवाद होते थे। मराठी के ग्रंथ शनि माहात्म्य में उल्लेख है कि उज्जैन के राजा विक्रमादित्य के यहां ज्योतिष के ऊपर ब्राह्मणों की परिचर्चा में ग्रहों की श्रेष्ठता पर एवं उनके मनुष्य पर होने वाले प्रभावों पर चर्चा चल रही थी। सभी विद्वान अपनी अपनी पुस्तिकाओं एवं अध्ययन के आधार पर सूर्य, चंद्र, मंगल, बुध, शुक्र, बृहस्पति इत्यादि का वर्णन करते हुए उनके गुण दोषों का बखान कर रहे थे। उसी समय सूर्य पुत्र शनिदेव अवंतिका नगरी के ऊपर से विचरण कर रहे थे। परिचर्चा की गूंज उनके कानों तक जा रही थी, उनके विषय में कोई भी कुछ नहीं कह रहा था इसका उन्हें अत्यंत दुःख हुआ इस कारण वह क्रोधित हो गये और राजा विक्रमादित्य को दण्डित करने के लिए अवंतिका नगरी में उतर गये। उन्होंने देखा कि राहु – केतु की भी वहां चर्चा हो रही थी। परंतु शनि के बारे में कोई भी चर्चा नहीं कर रहा था। शनिदेव इस पर क्रोधित हुए और अवंतिका आकर राजा की सभा में अपना आक्रोश व्यक्त किया। राजा विक्रमादित्य ने खेद व्यक्त किया परंतु शनिदेव का क्रोध शांत नहीं हुआ। उन्होंने राजा को दण्डित करने का मन बना लिया था।

एक माह पश्चात् राजा विक्रमादित्य की राशि से शनि की साढ़े साती का भ्रमण होने वाला था। शनिदेव ने राजा विक्रमादित्य को कहा कि मेरा अपमान अत्यंत महंगा पड़ेगा इस साढ़े साती में तुम्हें अत्यंत कष्ट उठाने पड़ेंगे। साढ़े साती के आरंभ होते ही राजा विक्रमादित्य पर कठिनाई के बादल छाने लगे। एक अश्व विक्रेता राजा के यहां घोड़े बेचने के लिए

आया। उनमें से एक घोड़े को राजा ने चुना एवं उसे घुमाने के लिए उसकी पीठ पर बैठ गया। राजा के पीठ पर बैठते ही घोड़ा चलने लगा। राजा ने उसकी परीक्षा पूर्ण कर ली थी परंतु अश्व विक्रेता ने उसे चाबुक मार दिया। वह अश्व आकाश मार्ग से घोर जंगल में राजा को ले गया। वहां जो जंगल था वह अपने आप गायब हो गया, साथ ही घोड़ा भी। बियाबान, डरावने स्थान से गुजरने के बाद चार कोस दूर राजा को एक शहर दिखाई दिया। उज्जयिनी नगर में राजा का इंतजार लोग करने लगे। परंतु राजा वापस नहीं आया। राजा के जाने के बाद अश्व विक्रेता ने प्रधानों से घोड़े की कीमत भी वसूल की। चारकोस यात्रा करने के बाद राजा को एक नगर मिला वहां पर राजा एक वैश्य के घर में ठहरा। राजा विक्रमादित्य की शारीरिक यष्ठि से व्यापारी अत्यंत प्रभावित हुआ उसने अपनी पुत्री के लिए मन ही मन राजा विक्रमादित्य का चुनाव कर लिया। अपनी पुत्री को राजा की सेवा के लिए नियुक्त किया। पुत्री ने हीरों का हार पहन रखा था जो उसे पसंद था परंतु रात के समय चित्र शाला में हंस स्वयं जाग्रत होकर हीरों के हार को निगल गये। उसकी चोरी का आरोप राजा विक्रमादित्य पर लगा। जिसके कारण राजा को वहां के राज दरबार में चोर के रूप में प्रस्तुत किया गया। राजा विक्रमादित्य को चोर सिद्ध कर राजा चंद्रसेन ने विक्रमादित्य के हाथ पैर को तोड़ने की सजा दी। राजा विक्रमादित्य को वहां पर अपंग कर दिया गया। लोग उसकी इस दशा पर अत्यंत दुःखी थे। कई दिनों तक भूखा रहने के बाद राजा ने उसे भोजन देने की आज्ञा दे दी। राजा ने अपनी दशा का वर्णन मार्ग में जाते हुए एक तेली की पत्नी को बताया। उसने यह कथा राजा चंद्रसेन को बताई और कहा कि मैं इसे ले जाना चाहती हूँ। इस पर राजा ने उसे तेली के हाथ सौंप दिया। तेली बैल के स्थान पर तेल की घानी में विक्रमादित्य को जोत देता था। राजा बड़ी निष्ठा से तेली का काम करता था और संगीत के माध्यम से अपने आप को खुश रखने का प्रयत्न करता था। राजकुमारी पद्मसेना ने उसकी गीत सुना तो वह उसके गीत पर मोहित हो गई। वह उनसे विवाह करना चाहती थी।

उसी समय राजा विक्रमादित्य की साढ़े साती का समय समाप्त हो रहा था। जैसे ही यह समय समाप्त हुआ चित्ररूपी हंस ने व्यापारी की पुत्री का हार उगल दिया। हार मिलते ही व्यापारी पुनः राजा चंद्रसेन के पास गया जहां पर उसने हार मिलने की कथा स्पष्ट की और राजा विक्रमादित्य को निर्दोष बताया। राजा विक्रमादित्य को शनिदेव ने दर्शन दिये। राजा ने शनिदेव की व्यापकता को स्वीकार किया और उन्हें निवेदन किया कि भविष्य में वह उन्हें शनि की पीड़ा और कष्ट प्रदान न करें। वह उन्हें बड़े आदर के साथ अपनी नगरी अवन्तिका में स्थापित करेगा।

शनिदेव ने कहा – शनि की पीड़ा से कोई भी विमुक्त नहीं रहा है परंतु तुम्हारे चरित्र पर लिखे गये ग्रंथ को जो पढ़ेगा उसके लिए मेरी पीड़ा बहुत कम हो जायेगी। शनिदेव ने राजा विक्रमादित्य को अनेक आशीर्वाद दिये और पुनः अवंतिका नगरी में उन्हें प्रतिस्थापित किया। इतिहास में कई स्थानों पर उल्लेख आता है कि राजा विक्रमादित्य जब उज्जयिनी के शासक थे तो पांच से सात वर्ष के लिए वह उज्जयिनी से बाहर रहे हैं । कथा द्वारा स्पष्ट होता है कि राजा विक्रमादित्य शनिदेव के भी आराधक थे। (मराठी ग्रंथ शनि माहात्म्य से उल्लेखित)।

राजा विक्रमादित्य ने उज्जयिनी में शनिदेव के मंदिर की स्थापना की। इस मंदिर में प्रार्थना करने से शनि के आक्रोश और पीड़ा से मुक्ति मिलती है।

राजा विक्रमादित्य का साहित्यिक उल्लेख –

वेताल भट्ट द्वारा लिखित वेताल पच्चीसी अर्थात् वेताल पंचविंशतिका एवं द्वात्रिंशत्पुत्तलिका जो कि दक्षिण भारत में विक्रम चरित्र के नाम से जानी जाती है। जिसके लेखक क्षेमेन्द्र मुनि माने जाते हैं। संभवतः इसका रचनाकाल ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास होना चाहिए, क्योंकि इस ग्रंथ में राजा भोज (परमार वंशी) जिसकी राजधानी धारा नगरी थी, का उल्लेख है। वेताल पंचविंशतिका अर्थात् वेताल पच्चीसी राजा विक्रमादित्य के समकालीन ग्रंथ माना जाता है क्योंकि इस ग्रंथ के रचयिता वेतालभट्ट विक्रमादित्य के दरबार में नवरत्नों में गिने जाते थे। वेताल पंचविंशतिका में जो 25 कहानियां उल्लेखित की गई हैं उनके अंत में वेताल राजा विक्रमादित्य (विक्रमार्क) से प्रश्न पूछता है जिसके सटीक उत्तर प्राप्त होने पर वह राजा को वन में ही छोड़कर निकल जाता है। प्राचीन समय में कथा बताकर उसके संदर्भ में प्रश्न पूछने की एक परंपरा थी। वेताल शब्द का शाब्दिक अर्थ श्मशान का रखवाला, जादूगर अथवा कर्मकांड में लिप्त ऐसा व्यक्ति जो कि प्रेतों को जगाकर उनमें आत्माओं को प्रवेश कराता हो। बढ़ई को भी मालवा के क्षेत्र में वेताल कहा जाता है। विक्रमादित्य से पूर्व वेताल परंपरा के राजाओं का उज्जैन पर शासन रहा है। वेतालों की परंपरा के अग्निवेताल को राजा विक्रमादित्य ने वश में कर लिया था। इसका भी उल्लेख मिलता है।

वेताल पंचविंशतिका की कथायें भविष्य पुराण में भी प्राप्त होती हैं। इन कथाओं के आधार पर राजा के ज्ञान की सारगर्भिता देखने के लिए वेताल ने प्रश्न पूछे हैं। जिनका प्रत्युत्तर पच्चीस कथाओं के बाद वेताल को विक्रमादित्य के वश में आने का निमंत्रण देता है। अर्थात् वेताल विक्रमादित्य के ज्ञान से, उसकी निष्ठा से एवं उसके सहज हृदय व्यवहार से अत्यधिक प्रभावित था। प्राचीन काल से ही उज्जयिनी क्षेत्र तंत्र, मंत्र, भूत – प्रेत एवं कापालिकों के द्वारा की जाने वाली तांत्रिक क्रियाओं का बहुत बड़ा केन्द्र रहा है। क्षिप्रा के किनारे श्मशान घाट में यह परंपरा आज भी प्राचीन काल से प्रचलित है। जोकि विक्रमादित्य के अस्तित्व का बहुत बड़ा संदर्भ प्रतीत होता है। राजा विक्रमादित्य की रक्षा के लिए दो वेताल दरबार में उपस्थित थे।

राजा विक्रमादित्य न्याय प्रिय, प्रजावत्सल, प्रयोगवादी और दूरदर्शी राजा था। द्वात्रिंशत्पुत्तलिका एक संस्कृत की महत्वपूर्ण रचना मानी जाती है। इस कथा के अनुसार एक दिन राजा भोज को यह मालुम होता है कि एक चरवाहा जो कि कुम्हारों के गाय भैंसों और बकरियों को चराने का कार्य करता है। वह एक टीकरे पर बैठकर न्याय देता है। और अपनी न्यायप्रियता के लिए ख्याती प्राप्त कर रहा है। तब राजा भोज स्वयं वेश बदलकर उस चरवाहे के न्याय दरबार में पहुँचे। उसके आत्मविश्वास, उसके फैसलें और निर्णय क्षमता से वह अत्यंत प्रभावित हुए। चरवाहे की जानकारी प्राप्त करते हुए उन्हें विदित हुआ कि उसका नाम चन्द्रभान है। सामान्य अवस्था में उसे किसी प्रकार का व्यावहारिक ज्ञान नहीं है परंतु टीकरे पर आने के बाद उसके मस्तिष्क में न्याय की शक्ति स्वतः चली आती है। राजा भोज ने अत्यंत सोच विचार करने के बाद टीकरे के उत्खनन का कार्य आरंभ किया तो वहां उसे मिट्टी में दबा हुआ एक राजसिंहासन प्राप्त हुआ। बत्तीस पुतलियों पर विराजमान यह सिंहासन अत्यंत आकर्षक, सुन्दर और मनोहारी था।

राजा भोज ने इस सिंहासन को अपने राजमहल में प्रतिस्थापित किया। शुभ मुहूर्त देखकर राजा ने सिंहासन पर

जब बैठने का प्रयास किया तब सिंहासन में जड़ी पुतलियां राजा का उपहास करने लगी। जब राजा ने उपहास का कारण पूछा तब उन पुतलियों ने राजा को राजा विक्रमादित्य की योग्यता के आधार पर प्रचलित कहानियां सुनाना आरंभ किया। साथ ही राजा भोज को यह अवगत कराया कि यह सिंहासन राजा विक्रमादित्य का है। जोकि योग्य, पराक्रमी, दानवीर, विवेकशील तथा न्यायप्रिय राजा था। इन पुतलियों के नाम निम्नानुसार थे – रत्नमंजरी, चित्रलेखा, चन्द्रकला, कामकंदला, लीलावती, रविभामा, कौमुदी, पुष्पवती, मधुमालती, प्रभावती, त्रिलोचना, पद्मावती, कीर्तिमती, सुनयना, सुन्दरवती, सत्यवती, विद्यावती, तारावती, रूपरेखा, ज्ञानवती, चन्द्रज्योति, अनुरोधवती, धर्मवती, करुणावती, त्रिनेत्री, मृगनयनी, मलयवती, वैदेही, मानवती, जयलक्ष्मी, कौशल्या, रानी रूपवती।

इन पुतलियों की कथा समाप्त होने के बाद पुतलियों ने राजा से प्रश्न किया कि क्या वह राजा विक्रमादित्य के बराबर गुणी है ? राजा ने आत्मावलोकन किया और नकारात्मक स्वीकारोक्ति दी। कथा के अनुसार सिंहासन में जड़ी पुतलियां आकाश मार्ग से सुदूर स्वर्ग की ओर निकल गईं। पुतलियों की बिदाई के बाद कहते हैं कि राजा भोज ने अपनी प्रजा के सामने उस सिंहासन को जमीन के अंदर गड़वा दिया लेकिन नये टीले में पुराने टीले जैसी न्याय परायणता नहीं थी। अन्य किवदंतियों के अनुसार सिंहासन सोना का बना हुआ था जिसे किसी सुरंग से लाकर चोरों ने निर्जन स्थान पर ले जाकर हथौड़े से प्रहार किया उसमें से चिंगारी निकली और चोर भस्म हो गये। ऐसी लगातार घटनायें होती रही। बाद में सिंहासन को जमीन के अंदर गड़वा दिया
गया था। एक अन्य किंवदंती के अनुसार सिंहासन पुतलियां उड़ाकर आकाश मार्ग से कहीं ले गईं। संभवतः स्वर्ग की ओर। एक अन्य कथा के अनुसार बत्तीस पुतलियों की कथा समाप्त होने के बाद सिंहासन मृतप्राय हो गया था। राजा ने उसे मंत्रोच्चार के साथ दक्षिण की ओर जाकर कावेरी नदी में प्रवाहित किया।

यह दोनों कथायें राजा विक्रमादित्य की योग्यता का उसके आदर्शों का एवं जन भावनाओं के प्रति निष्ठाओं का वर्णन द्वात्रिंशत्पुत्तलिका में है।

पुरातात्त्विक तथ्य –

राजा विक्रमादित्य और विक्रम संवत् के प्राचीन साहित्य पुरावलेखों, शिलालेखों, ताम्रपत्र और सिक्कों पर प्रमाण मिलते हैं। सबसे प्राचीन अभिलेखधिनिक गुजरात से विक्रम संवत्सर शतेषु, सप्तसु चतुर्नवत्यधिकेष्वंकतः (संवत 749) प्राप्त होता है। भारत वर्ष में आज भी दो संवत्सर प्रचलित हैं। प्रथम संवत्सर के रूप में विक्रम संवत् और दूसरा शालिवाहन शक संवत्। विक्रम संवत् ईसा पूर्व 57 वर्ष से पहले माना जाता है एवं शालिवाहन शक संवत् ईसा पश्चात् लगभग 78 वर्ष बाद का माना जाता है। विक्रम संवत् का आरंभ अश्विन (कार्तिक) मास की अमावस्या से होता है। प्रचलित मान्यताओं के अनुसार उस दिन राजा विक्रमादित्य का राज्याभिषेक हुआ था तथा शक संवत्सर चैत्र मास की प्रतिपदा से आरंभ होता है।

राजा विक्रमादित्य के पश्चात् भी अनेकों राजाओं ने विक्रमादित्य की उपाधि से राज्य किया है। गुप्त वंश के राजा

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के नाम से राजा चंद्रगुप्त द्वितीय विख्यात हुए थे। उनका काल भारतीय इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से जाना जाता है।

प्राचीन भर्तृहरिनाथ गुफाओं के चित्र इन्हीं गुफाओं से होकर भर्तृहरिनाथ ने स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया था।

संदर्भ –

1. डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित द्वारा लिखित वेताल पच्चीसी।
2. क्षेमेन्द्र रचित सिंहासन बत्तीसी इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र द्वारा प्रकाशित।
3. धुण्डिपुत्र मालु कवि विरचित नवनाथ भक्तिसार अध्याय 25 से 29 तक, स्वामी समर्थ सेवा केन्द्र, नासिक द्वारा 2008 में प्रकाशित।
4. शनि माहात्म्य, मराठी लोक साहित्य से शनि की आराधना के लिए 388 छंदो का ग्रंथ। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है परंतु शनि की आराधना के लिए इसका पाठ सभी महाराष्ट्रीयन परिवार में होता है।
5. श्री विमलचन्द्र पाण्डेय प्रकाशक सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस। प्राचीन भारत का राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास पृष्ठ संख्या 578।
6. विक्रमादित्य एवं पुरातत्त्व – डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित, डॉ. आर.सी. ठाकुर, डॉ. जे.एन. दुबे महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ उज्जैन से प्रकाशित।
7. इंटरनेट पीडीएफ राजा विक्रमादित्य से शोधकर्ता का उल्लेख नहीं है।
8. भविष्य पुराण के प्रतिसर्ग पर्व से उल्लेखित।

प्राचीन काल का भैरव मंदिर। इस मंदिर के बाजू से उज्जैन का श्मशान घाट स्थित है। यहाँ पर पिंगला के विरह में भर्तृहरिनाथ ने बारह वर्ष बिताये थे। यहीं पर भर्तृहरिनाथ को नाथ परंपरा के महान गुरु गोरक्षनाथ जो कि प्रथम नाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे, से साक्षात्कार हुआ था। गुरु गोरक्षनाथ ने एक सुराही के माध्यम से भर्तृहरिनाथ को जीवन की मौलिकता और मृत्यु का आभास कराया था। उन्होनें अपनी मंत्र शक्ति से अनेक पिंगलायें भर्तृहरिनाथ के सामने उपस्थित कर दी थी और सिद्धकर दिया था कि नाथ परंपरा के अनुसरण में उनके मोक्ष प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होगा। इसके पश्चात् गिरनार पर्वत की ओर भर्तृहरिनाथ को ले गये जहाँ नाथ परंपरा के प्रथम गुरु दत्तात्रेय से विधिवत् संन्यास की दीक्षा राजा भर्तृहरिनाथ ने ग्रहण की।

गंधर्वपुरी की किंवदंतियों में महाराजा विक्रमादित्य के पिता गन्धर्वसेन

नरेशकुमार पाठक

गंधर्वपुरी देवास जिले की सोनकच्छ तहसील का कस्बा है। यह 22°58′ उत्तरी अक्षांस एवं 76°24′ पूर्वी देशान्तर पर स्थित है, यह स्थल सोनकच्छ के उत्तर पूर्व में 9 कि.मी. की दूरी पर पिपलरावां मार्ग पर समवती नदी के किनारे स्थित है। गन्धावल या गंधर्वपुरी की प्राचीनता एवं ऐतिहासिकता के संबंध में अनेक दन्त कथाएं प्रचलित हैं। जनश्रुति के अनुसार गंधर्वपुरी नगर की स्थापना विक्रमादित्य के पिता गंधर्वसेन गर्दभिल्ल के द्वारा की गई थी। विक्रमादित्य एवं गंधर्वसेन की ऐतिहासिकता के संबंध में डॉ. राजबली पाण्डेय एवं एस.के.दीक्षित ने साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर प्रमाणिकता सिद्ध करने का प्रयास किया है। तथा उक्त दोनों विद्वानों ने शोध कार्य एवं अन्य स्त्रोतों से ज्ञात जानकारी के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि गंधर्वसेन मालव जाति का शासक एवं विक्रमादित्य का पिता था।

गंधर्वसेन को गर्दभिल्ल तथा कहीं –कहीं महेन्द्रादित्य भी कहा गया है। शकों से पराजित होकर गंधर्वसेन को उज्जैन से पूर्वोत्तर दिशा में पलायन करना पड़ा था। पलायन के समय सम्भवतः गंधर्वसेन ने गंधर्वपुरी को बसाया था। भौगोलिक रूप से संरक्षित यह भू–भाग संकट काल के लिए उपयुक्त था। गंधर्वपुरी से ही शक्ति संग्रह कर विक्रमादित्य ने ई.पू. 57 में शकों को पराजित किया था और विक्रम संवत् को प्रारंभ किया था। प्रचलित जनश्रुति की ऐतिहासिकता को प्रमाणित करने के लिए पुरातत्त्वीय साक्ष्य का होना आवश्यक है, किन्तु यह दुर्भाग्य है, कि गंधर्वपुरी से प्राचीन साक्ष्य प्राप्त नहीं हुए हैं। डॉ. रमेशचन्द्र यादव के अनुसार नदी के दूसरी ओर यदि गहन सर्वेक्षण करें तो गंधर्वपुरी के प्राचीन साक्ष्य प्राप्त हो सकते हैं, जिससे गंधर्वपुरी की ऐतिहासिकता ई.पू. तक सिद्ध की जा सकती है। गंधर्वपुरी का प्रसिद्ध मंदिर गंधर्वसेन के नाम से है। यह शैलीगत आधार पर लगभग 11 वीं 12 वीं शती ईस्वी का होकर भूमिज शैली का है[1]।

इस नगरी का सबसे प्राचीन नाम चम्पावती था। बाद में यह गंधर्वनगरी कही जाने लगी। किंवदंती के अनुसार किसी समय महाराजा गर्दभिल्ल यहां पर शासन करते थे। उन्हीं के नाम पर यह स्थान गंधावल कहा जाने लगा। यह नाम ग्वालियर राज्य एवं मध्यभारत तक चला। यहां पर बने देवालय में पाषाण प्रतिमा मिली थी जिसको इस गांव के निवासी व स्थानीय लोग महाराज गर्दभिल्ल की मूर्ति बताते हैं। मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री डॉ. कैलाशनाथ काटजू इस स्थान को देखने आए थे। उपर्युक्त देवालय के सामने उन्होंने एक ऐसा पाषाण पट्ट देखा जिसमें दोनों ओर मूर्तियां उत्कीर्ण थीं। इस पर एक ओर गरुड़ासीन लक्ष्मीनारायण अंकित हैं तथा दूसरी ओर अन्य लघु मूर्तियों के साथ–साथ प्रतिमा के ऊपरी भाग में गंधर्वो का चित्रण किया गया। डॉ. काटजू ने केवल इसी मूर्ति के एक मात्र आधार पर गंधावल से इसे गंधर्वपुरी की संज्ञा प्रदान की और तब से इस क्षेत्र के लोग इसे गंधर्वपुरी कहने लगे।

उज्जयिनी के शासक गंधर्वसेन गर्दभिल्ल ने जैनाचार्य कालक की भगिनी आर्य रक्षित सरस्वती का शील भंग किया था। कालकाचार्य कथानक में उल्लेख है कि जैनाचार्य ने क्रुद्ध होकर शक नरेश नहपान को उज्जैन पर आक्रमण हेतु आमंत्रित किया। क्षहरात वंशी क्षत्रप नहपान को जैन साहित्य में नरवाहन या नववाहन कहा गया है। पैरिप्लस ऑफ दी एरिथ्रियन सी नामक पुस्तक के लेखक ने उसका वर्णन नैम्बैनस के नाम से किया है। नहपान के दामाद उषवदत्त के नासिक गुहा लेख क्रमांक 10 से ज्ञात होता है[2] कि अपने मित्र उत्तमभद्रों की मालव आक्रमणकारियों के विरुद्ध सहायता करने गया था। इस युद्ध में मालव पराजित हुए थे। सम्भवतः उत्तमभद्र उज्जैनी के शासक रहे होंगे। वे जैन धर्म के संरक्षक होंगे एवं उन्होंने जैनाचार्य के माध्यम से शकों की सहायता की होगी जिसमें मालवराज गंधर्वसेन पराजित हुआ और उज्जयिनी की सत्ता से विरक्त होकर जंगलों में भटकना पड़ा। यहाँ उसने नवीन नगर गंधर्वपुरी की स्थापना की। गंधर्वपुरी से संबंधित किंवदंती का विवरण श्री गणेशदत्त शर्मा इन्द्र द्वारा गंधावल नामक आलेख में दिया है, जिसका विवरण इस प्रकार है –

गंधर्वपुरी के संबंध में किंवदंती है, एक बार इन्द्र के पुत्र गंधर्वसेन के प्रासाद के नीचे से उर्वशी अप्सरा निकली। गंधर्वसेन ने थूका जो योगात् उर्वशी पर जा गिरा। यह अत्यन्त क्रुद्ध होकर इन्द्र के पास पहुंची और गंधर्वसेन के इस प्रमादपूर्ण व्यवहार की शिकायत की। इन्द्र ने गंधर्वसेन को बुलाकर भला बुरा कहा और बोले कि तू गंधर्वसेन नहीं बल्कि गर्दभिल्ल है, मैं तुझे शाप देता हूँ कि तू गर्दभ होगा।

शाप प्रताड़ित गंधर्वसेन का जन्म अवन्तिका क्षेत्र के चम्पावती नामक नगर में एक कुम्हार के घर हुआ। जब वह बड़ा हुआ तो नित्य अपने स्वामी से कहता कि आप अपने राजा से कहो कि वह अपनी पुत्री का विवाह मुझ से कर दे। गधे की बात पर कुम्हार को आश्चर्य हुआ। उसकी क्या बिसात जो ऐसी बात राजा तक पहुंचा सके। किंतु बात धीरे – धीरे सारी नगरी में फैल गई और राजा के कानों तक भी पहुंची। एक दिन राजा ने रात के समय कुम्हार के घर में छिपे रहकर उस गधे की बात सुनी। राजा को महान आश्चर्य हुआ और उसने इसे अदृश्य की प्रेरणा मानकर अपनी पुत्री का विवाह उस गर्दभ रूपी गंधर्वसेन से कर दिया। कहते हैं , कि विवाहोपलक्ष्य में गंधर्वसेन ने इस नगरी के चारों ओर तांबे की एक नगर प्राचीर बनवाई।

गंधर्वसेन नित्य रात को मनुष्य रूप हो जाता और सूर्योदय के पूर्व फिर गधा बन जाता। यह क्रम महीनों तक चलता रहा। एक दिन राजपुत्री ने गंधर्वसेन के मनुष्य रूप में हो जाने पर उसके गधे के शरीर को नष्ट कर दिया। इससे गंधर्वसेन बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने अपनी पत्नी से कहा कि तुमने यह कार्य बहुत ही बुरा किया। अब तुम बिना पीछे देखे इस चम्पावती की सीमा से अविलम्ब बाहर हो जाओ। यहां अब मैं भयंकर धूलवृष्टि करूंगा, जिससे सारा नगर दब जायेगा और सब मकान नष्ट भ्रष्ट हो जायेंगे। राजकुमारी तत्काल वहां से चल दी। ज्यों ही नगर सीमा के बाहर हुई कि भयंकर धूल वर्षा आरंभ हुई और सारा नगर उसमें दब गया। गंधर्वसेन की पत्नी उज्जैन पहुँची जहां कुछ काल उपरान्त उसके गर्भ से

इतिहास प्रसिद्ध विक्रमादित्य का जन्म हुआ।

इसी से मिलती–जुलती एक जनश्रुति और भी है, कि पहले यहां कभी गधों का मेला लगा करता था। हजारों लाखों गधों का आयात–निर्यात भारत में ही नहीं काबुल, तुर्किस्तान, ईरान और अरब तक होता था। इसलिए इस स्थान का नाम गधावल पड़ा जो बाद में गंधावल कहलाया। कहते हैं उन दिनों जो राजा राज्य करता था उसका नाम गंधर्वसेन था।

यद्यपि ये किंवदंती बिल्कुल सत्य नहीं है तथापि इसमें थोड़ी बहुत ऐतिहासिकता अवश्य है। जैन ग्रन्थों में उज्जैन के राजा गर्दभिल्ल मिलता है जो विश्व विदित महाराज विक्रमादित्य का पिता कहा गया है।

संदर्भ–सूची

1. जाधव दिलीपसिंह, पाठक नरेशकुमार, ठाकुर जीवन सिंह देवास इतिहास ''संस्कृति एवं पुरातत्त्व'' देवास 1906 पृष्ठ 84-85
2. पाठक नरेशकुमार मध्यप्रदेश का ''जैन शिल्प इन्दौर'' 2001 पृष्ठ 97-98
3. शर्मा राजकुमार मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व का संदर्भ ग्रन्थ भोपाल 1974 पृष्ठ 21
4. पाठक नरेशकुमार ''मध्यप्रदेश जैन शिल्प'' पूर्वोक्त पृष्ठ 67
5. शर्मा गणेशदत्त इन्द्र ''मध्यभारत के ऐतिहासिक स्थान गन्धावल मध्य'' भारत संदेश 24 अप्रैल 1954 पृष्ठ 9

संग्रहाध्यक्ष
जिला पुरातत्त्व संग्रहालय
हिन्दूपत महल, पन्ना (म.प्र.)
मो. नं. 9826341257

जिला संग्रहालय विदिशा में सुरक्षित महाराजा विक्रमादित्य कालीन प्रतिमाएँ

नरेशकुमार पाठक

जिला पुरातत्व संग्रहालय, विदिशा की स्थापना वर्ष 1940 में हुई थी[1]। इस संग्रहालय में मूर्तिकला का महत्वपूर्ण संग्रह हैं, जो विदिशा एवं रायसेन जिले से प्राप्त हैं। संग्रहालय में मौर्य काल से लेकर 20 वीं शताब्दी तक की दुर्लभ मूर्तियाँ संग्रहित हैं। महाराजा विक्रमादित्य का शासन काल लगभग प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है। महाराजा विक्रमादित्य शिल्प साधना के प्रेमी थे, उनके शासन काल की विदिशा, वेसनगर एवं उदयगिरि (विदिशा) से कुछ महत्वपूर्ण प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं, जिनका काल ईसा पूर्व प्रथम शती है, संग्रहित प्रतिमाओं का विवरण इस प्रकार हैं :–

1. स्तम्भ शिखर विदिशा से प्राप्त स्तम्भ शिखर में सर्वप्रथम स्तम्भ जोड़ने का गर्त जिसके (स.क्र. 341) चारों ओर सात सर्पफण तथा त्रिभुजाकार आकृति अधोमुख, सहस्त्रदल कमल, कमल के ऊपर रस्सी (अवेक्स) शिल्पांकित है। जिस पर वृताकार फलक व जंजीर अंकित हैं। तदुपरान्त चौकी है, जो तीन–तीन पट्टी में है। चौकी के ऊपर वृत्ताकार शीर्ष (आमलक) का आलेखन है, जिसके ऊपर सम्भवतः कोई शीर्ष आकृति का अंकन रहा होगा। लाल बलुआ पत्थर पर निर्मित 107×49×49 से.मी. आकार की प्रतिमा ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी की है।

2. नाग प्रतिमाओं से युक्त जैन शिल्प खण्ड – विदिशा से प्राप्त इस शिल्पखण्ड में तीन–तीन फणों से युक्त नाग–नागिन आपस में लिपटे हुए पांच–पांच गुत्थियों का स्पष्ट आलेखन महत्वपूर्ण है। (स.क्र. 34) नागफणों के दोनों ओर कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानस्थ जिन प्रतिमाओं का अंकन मनोहारी है। यह प्रतिमा संग्रहालय की जैन प्रतिमाओं में सबसे प्राचीनतम प्रतिमा है। सफेद बलुआ पत्थर पर निर्मित 67×34×22 से.मी. आकार की प्रतिमा प्रथम शती ईसा पूर्व की है।[2]

3. यक्ष – विदिशा से प्राप्त इस यक्ष प्रतिमा के पैर, सिर और दोनों हाथ भग्न हैं। (स.क्र. 34) कंधे पर यज्ञोपवीत का आलेखन है। छाती पर फेटा कसा है, नीचे पहिनी धोती, मेखला से इस प्रकार सजाई है कि आकृति–स्थूल या निकला हुआ पेट स्पष्ट है। कलाकृति पर ईसा पूर्व शती में प्राप्त कुबेर यक्ष प्रतिमा का प्रभाव परिलक्षित होता है। गहरे लाल बलुआ पत्थर पर निर्मित 126×55×30 से.मी. आकार की प्रतिमा लगभग ईसा पूर्व प्रथम शती की है।

4. नन्दी – वेसनगर (विदिशा) से प्राप्त यह नन्दी प्रतिमा (स.क्र. 18) आयताकार चौकी पर खड़े हुए हैं, विशाल नन्दी का यथार्थ अंकन किया गया है। प्रतिमा अलंकरण विहीन है, परंतु संतुलित है। यह प्रतिमा स्तम्भ शीर्ष पर खड़ी प्रतिमा है, क्योंकि स्तम्भ के साथ जोड़ने के लिए प्रयोग किया जाता होगा। लाल बलुआ पत्थर पर निर्मित प्रतिमा लगभग ईसा पूर्व प्रथम शती की है।[3]

5. नन्दी – विदिशा से प्राप्त नन्दी प्रतिमा के पैर व सींग भग्न हैं। (स.क्र. 269) गर्दन पर सिल्वटों का आलेखन है। प्रकृति के प्रकोप से प्रतिमा विकृत हो गई है। कलात्मक अभिव्यक्ति सामान्य स्तर की है। लाल बलुआ पत्थर पर निर्मित 104×33×43 से.मी. आकार की प्रतिमा लगभग ईसा पूर्व प्रथम शती ईसवी की है।

6. नन्दी – उदयगिरि (विदिशा) से प्राप्त नन्दी प्रतिमा का मध्य भाग है। (स.क्र. 273) पैर व सिर भग्न है।[4] प्रकृति के प्रकोप के कारण प्रतिमा खण्डित है।[5] अत्यधिक क्षरण के कारण कलाकृति की भव्यता समाप्त हो गयी है। लाल बलुआ पत्थर पर निर्मित 90×34×53 से.मी. आकार की प्रतिमा लगभग ईसा पूर्व प्रथम शती की है।

उपरोक्त प्रतिमाएँ यद्यपि काफी कम संख्या में होकर खण्डित अवस्था में हैं, फिर भी महाराजा विक्रमादित्य कालीन मूर्तिकला के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

सन्दर्भ – सूची

1. मध्यप्रदेश के संग्रहालय भोपाल 2004 पृष्ठ 9
2. पाठक नरेशकुमार, मध्यप्रदेश का जैन शिल्प इन्दौर 2001 पृष्ठ 128-29
3. यह प्रतिमा विदिशा संग्रहालय से राज्य संग्रहालय भोपाल स्थानान्तरित कर दी गई है।
4. यह प्रतिमा स्थापत्य एवं मूर्तिकला के प्रसिद्ध स्थान उदयगिरि से प्राप्त है।
5. महाराजा विक्रमादित्य के सिक्कों पर नन्दी अंकित मिलता है। देखिए विक्रमादित्य और पुरातत्व उज्जैन 2012 पृष्ठ 17

संग्रहाध्यक्ष
जिला पुरातत्व संग्रहालय
हिन्दूपत महल, पन्ना (म.प्र.)
मो. नं. 9826341257

गढ़कालिका, उज्जैन के सर्वेक्षण से प्राप्त अद्वितीय खण्डित शिलालेख

डॉ. जगन्नाथ दुबे

गढ़कालिका, उज्जैन के सर्वेक्षण से प्राप्त एक मूँठ युक्त खण्डित शिलालेख डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित को प्राप्त हुआ है। उसकी माप गोलाई (अद्‌र्धचन्द्राकार) 11.5 सेण्टीमीटर तथा मूँठ की माप 4 X 3 सेण्टीमीटर है। यह एक ओर गोलाकार व दूसरी ओर समतल है।

इस भग्न प्रस्तर खण्ड के अधो भाग के पटल पर ब्राह्मी लिपि में नंदी की ओर से प्रारम्भ में सिधम् मोटे ब्राह्मी लिपि के अक्षरों में विक्रम उसके पश्चात् मूषक पर आसीन दक्षिणाभिमुख विघ्न-विनाशक सूँडवाले गणेश, गणेश के समीप दक्षिणाभिमुख खड़े हुए वृषभारुढ़ सम्मुखाभिमुख शिव, उनका दाहिना हाथ नन्दी की पीठ पर व बायाँ हाथ नन्दी के ककुद पर स्थित है। शिव के बाद मोटे ब्राह्मी लिपि के अक्षरों में रुदस (रुद्रस्य) लेख तदनन्तर गतिशील वृषभ (नन्दी) पर आसीन दक्षिणाभिमुख जटाधारी शिव (महाकाल) उत्कीर्ण है। फलक के अन्त में ब्राह्मी लिपि में लेख 'मह' दृष्टिगत है।

प्रस्तर खण्ड की मूँठ के अधो भाग के दाहिने फलक पर सिरे से कुछ दूरी पर अस्पष्ट सा ब्राह्मी लिपि में लेख श्रीमद् विक्रमादित्य देव तथा फलक के मध्य में (श्री) मद् विक्रमदेव लेख उत्कीर्ण है।

मूँठ के एक ओर समतल चौकोर फलक पर वामाभिमुख खड़ा हुआ सिंह तथा निम्न भाग की पट्टिका पर ब्राह्मी लिपि में 'श्रीमद् विक्रम देव जयति' लेख उत्कीर्ण है। मूँठ के दूसरी ओर गोलाकार भाग पर भी दक्षिणाभिमुख खड़ा हुआ सिंह उत्कीर्ण है। मूँठ के शीर्ष भाग का लेख अस्पष्ट है।

इस शिलालेख पर उत्कीर्ण 'विक्रम' नाम के पश्चात् मूषक पर आसीन गणपति का विशेषतया रूपांकन है। विक्रम विश्व विद्यालय पुरातत्व संग्रहालय उज्जैन में पंजीयन क्रमांक - 58 में वर्णित गणपति प्रस्तर प्रतिमा तथा संग्रहालय में संरक्षित इस प्रतिमा के दाहिनी ओर ऊपरी किनारे पर ब्राह्मी लिपि के अक्षरों में श्री विक्रम उसके निम्न भाग में तीन पंक्तियों में ब्राह्मी लिपि में लेख 1. सिधम गणपति 2 देवम और 3. विक्रम जयति उत्कीर्ण है। इस प्रस्तर खण्ड पर अंकित सर्वप्रथम विक्रम नाम तत्पश्चात् गणपति का मूषक पर आसीन रूपांकन तथा संग्रहालय की गणपति प्रतिमा पर दो स्थानों पर विक्रम नाम उत्कीर्ण है, इस लेख व प्रतिमा से यह प्रमाणित होता है कि महाराजा विक्रमादित्य के सर्वप्रथम आराध्य विघ्न विनाशक गणेश थे। अपने शासन काल में राजधानी उज्जयिनी में उन्होंने मंदिर बनवाकर संग्रहालय में संग्रहीत वर्तमान प्राचीन प्रतिमा को स्थापित करवाया।

उपरोक्त वर्णित प्रस्तरखण्ड पर उत्कीर्ण 'विक्रम' नाम तथा रुदस (रुद्रस्य) ब्राह्मी लेख व दो विभिन्न रूपों में नन्दी पर आसीन शिव का रूपांकन व अन्तिम सिरे पर मह लेख उत्कीर्ण है। इस प्रस्तर खण्ड की उपलब्धि के पूर्व भी दो मृण्मय मुद्रांक उज्जयिनी-परिक्षेत्र से प्राप्त हुए हैं। एक मृण्मय मुद्रांक के ऊपरी किनारे पर वृत्तायत मोटे अक्षरों में ब्राह्मी लिपि में 'विक्रम रुद्रस महव' लेख और मुद्रांक के मध्य में दक्षिणाभिमुख पीठासीन ककुदमान वृषभ (नन्दी) का चित्रण है। इस मृण्मयी मुद्रांक पर अंकित ब्राह्मी लिपि युक्त लेख प्रस्तर खण्ड पर उत्कीर्ण लेख के ही समान है।

द्वितीय मृण्मय मुद्रांक के ऊपरी धरातल पर मध्य में भैरव (शिव का रौद्र रूप) सम्मुखाभिमुख खड़े हैं। उनके बायीं ओर उनके सम्मुख मुँह किये एकटक देखता हुआ उनका वाहन श्वान खड़ा है। मुद्रांक के निम्न भाग में ब्राह्मी लिपि में हर भव विक्रम लेख तथा उसके नीचे धनुष - बाण अंकित है। इस मुद्रांक पर अंकित चित्रण भैरव और लेख 'श्री विक्रम' का आशय यह है कि भैरव शिव के अवतार हैं और विक्रमादित्य भी रुद्रांश हैं। इस फलक और गणपति प्रतिमा के लेखों में ईसवी पूर्व प्रथम शती की ब्राह्मी लिपि है।

उपरोक्त वर्णित भग्न शिलालेख के अधोभाग के फलक पर दो स्थलों पर दो विभिन्न रूपों में शिव का उत्कीर्णन है। सर्वप्रथम गणेश के चित्रण के पश्चात् दक्षिणाभिमुख खड़े हुए वृषभ (नन्दी) पर आसीन सम्मुखाभिमुख शिव, दूसरा स्वरूप गतिशील वृषभ (नन्दी) पर आरुढ़ दक्षिणाभिमुख जटाधारी शिव तथा इस चित्रण के पूर्व ब्राह्मी लिपि में लेख 'रुदस' (रुद्रस्य) तथा शिव के पश्चात् 'मह' अर्थात् महोत्सव लेख उत्कीर्ण है। अतएव इस फलक पर उत्कीर्ण तीनों विभिन्न लेखों यथा सर्वप्रथम विक्रम तदनन्तर रुद्रस और फलक के अन्तिम सिरे पर 'मह' वहीं शिव के दो विभिन्न स्वरूपों का भी उत्कीर्णन है। अतएव इस फलक पर उत्कीर्ण लेखों और शिव के दोनों विभिन्न स्वरूपों के साक्ष्यों को संयुक्त रूप से लेकर यह सुस्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि महाराजा विक्रमादित्य ने अपने शासन काल के मध्य अपनी राजधानी व सार्वभौम नगर उज्जयिनी के देवालय में स्थानक शिव प्रतिमा स्थापित करवाई थी, इसके साथ ही उज्जयिनी नगर में सर्वप्रथम रुद्र अथवा महाकाल की सवारी का नगर भ्रमण का धार्मिक महोत्सव का प्रारम्भ किया होगा। यह शिला खण्ड मूँठ युक्त है।इस मूँठ के दोनों ओर खड़े हुए सिंह का चित्रण है। सिंह का प्रतीक राज्यसत्ता एवं शासक के वैभव का परिचायक है। गढ़कालिका (उज्जैन) क्षेत्र से उपलब्ध होने व शासक का नामाङ्कन (विक्रम) और शिव के दो विभिन्न रूपाकंन इस शिलाखण्ड के फलक पर उत्कीर्ण होने के कारण यह पुरातत्त्व निधि विस्मयकारक एवं अद्वितीय है।

शोध अधिकारी
म.वि.शो.पीठ, उज्जैन

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ पुरातत्त्व संग्रहालय में संरक्षित 'विक्रम' नामाङ्कित ताम्र-मुद्रा

डॉ. जगन्नाथ दुबे

'विक्रम' नामाङ्कित यह गोलाकार ताम्र-मुद्रा उज्जैन के सराफा बाजार में एक व्यवसायी से प्राप्त हुई है। यह मुद्रा निम्न भाग में कुछ खण्डित है। इसकी माप 1.5 से.मी. तथा वजन 2.42 ग्राम है।

पुरो भाग : बायीं ओर वृषभ खड़ा हुआ तथा किनारे पर मकार अंकित है। मुद्रा के निम्न खण्डित भाग के ऊपर दाहिनी ओर ईसवी पूर्व प्रथम शती की ब्राह्मी लिपि में 'विक्रम' नाम सुस्पष्ट रूप से अङ्कित है।

पृष्ठ भाग : दक्षिणाभिमुख खड़ा हुआ वृषभ तथा ऊर्ध्व भाग पर वेदिकाध्यक्ष का चित्रण है।

उपरोक्त वर्णित मुद्रा के पूर्व भी ईसवी पूर्व की ब्राह्मी में 'विक्रम' नामाङ्कित मुद्राएँ प्रकाश में आयी हैं। उन मुद्राओं का वर्णन इस प्रकार है :-

1. वृत्ताकार ताम्र-मुद्रा के पृष्ठ भाग पर ब्राह्मी लिपि में लेख 'विक्रम' परवतन्द्र (पर्वतेन्द्र)और कदस(कृतस्य) अंकित है।
2. गोल ताम्र-मुद्रा के पृष्ठ भाग पर 'विक्रम' नाम उजयि(नि) नगर नाम ब्राह्मी लिपि में अंकित है।
3. गोल ताम्र-मुद्रा के पुरोभाग पर 'राजा विक्रम' ब्राह्मी लिपि में अंकित है। इस नामाङ्कन प्रकार की तीन ताम्र-मुद्राएँ हैं।
4. गोल ताम्र-मुद्रा के पुरोभाग पर ब्राह्मी लिपि में लेख 'विक्रमस' (विक्रमस्य) और 'उजनियि' नगर नामाङ्कित है।
5. एक अन्य गोल, ताम्र-मुद्रा के पृष्ठ भाग पर उज्जयिनी चिह्न के चार वृत्तों में से एक ऊर्ध्व वृत्त के अतिरिक्त तीन वृत्तों पर

   क्रमश: 'विक्रम' नाम ब्राह्मी लिपि में अंकित है।
6. गोल, आवक्षाङ्कित ताम्र-मुद्रा इस ताम्र-मुद्रा के पुरो भाग पर महाराजा विक्रमादित्य की आवक्षाङ्कित प्रतिमा के साथ

   उनके मुँख के सम्मुख 'विक्रम' नाम ब्राह्मी लिपि में अंकित है।

इस प्रकार वर्तमान में 'विक्रम' नामांङ्कित आठ ताम्र-मुद्राएँ प्रकाश में आयी हैं। सराफा बाजार से प्राप्त इस मुद्रा की यह विशेषता है कि इस पर दोनों ओर वृषभ (नन्दी) शिव के वाहन का अङ्कन तथा सुस्पष्ट रूप से ब्राह्मी लिपि (प्रथम सदी ईसा पूर्व) में 'विक्रम' नाम अंकित है।

सन्दर्भ :

1. विक्रमादित्य और पुरातत्त्व: प्रधान सम्पादक श्रीराम तिवारी, पृष्ठ 24, 25 व 26 उपरोक्त वर्णित क्रमाकं 1 से 4 तक इस ग्रन्थ में प्रकाशित है।
2. विक्रमार्क : प्रधान सम्पादक श्रीराम तिवारी - वर्ष 1 अंक 1 माह मार्च 2013 पृष्ठ 12, 13 (क्रमांक 5 पर वर्णित मुद्रा)
3. वही ग्रन्थ 3 वर्ष 1अंक 2, अक्टूबर 2013 मार्च 2014 पृष्ठ (61,62) (क्रमांक 6 पर वर्णित मुद्रा)

शोध अधिकारी
म.वि.शो.पीठ, उज्जैन

संवती मालवगणाध्यक्ष या 'महाराजा' विक्रमादित्य

डॉ. रामचन्द्र तिवारी
डी.फिल. (श्रीमद्भागवत्), डी. लिट. (कालिदास–तिथि)

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, उज्जैन से 2012 ई. में प्रकाशित, 28 पृष्ठीय 'विक्रमादित्य और पुरातत्त्व', लेखक डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित, डॉ. आर.सी. ठाकुर तथा डॉ. जे.एन. दुबे, सम्पादक श्री राम तिवारी में 57 ई.पू. शकविजय कर महाराजा विक्रमादित्य ने उज्जयिनी में संवत् चलाया था, ऐसा सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। जिसके लिए निम्नलिखित 33 पुरातात्त्विक प्रमाण दिये गये हैं ।

1- 18 मुहरें,

2- 10 सिक्के,

3- 3 मूलदेव के प्रमाण–मुहर, सिक्का और पात्र

4- राजस्थानी प्रतापगढ़ जिले के अँवलेश्वर ग्राम के खंडित शिव मंदिर लेख और स्तम्भ तथा चौकी लेख।

उक्त 33 प्रमाणों से इतना तो सुप्रमाणित हो ही जाता है कि विक्रम, विक्रमस और विक्रमादित्य उपाधि वाले राजा, न कि गणाध्यक्ष हुए थे, अवश्य ही वे भोजोत्तर थे। 57 ई.पू. विक्रमादित्य के विषय में निम्नलिखित 5 धारणाएँ हैं, विशेषतः उज्जयिनी में।

1. वह शक विजय था, अतः उसने
2. उक्त विजय के उत्सव में 57 ई.पू. विक्रमसंवत् चलाया था।
3. डॉ. वाकणकर के अनुसार वह मालव गणाध्यक्ष था।
4. उसने अपनी राजधानी उज्जैन में संवत् चलाया था, तथा
5. उसकी सभा में कालिदास आदि रत्न थे, जिनका हरसिद्धि मंदिर के बाहर पूर्वी बरामदे में जनता ने स्मारक बनाया भी है।

उक्त 5 लक्षणों में भी 2 लक्षण तो मूर्धन्य हैं, सर्वातिशायी हैं,

1. मालवगण द्वारा मालवगण की स्थिति स्थापना–प्रतिष्ठापन पर मालवसंवत् का कृत नाम से 'आम्नात' अर्थात् वैदिक विद्या से विहित या प्रवर्तित किया जाना तथा

2. गणधानी (राजधानी) उज्जैन मे हीं मालव संवत् का प्रवर्तन होना।

उक्त दोनों लक्षणों को आ. वाकणकर, आ. सू.ना. व्यास, आ. हरिहरनिवास द्विवेदी, आ. राजबली पाण्डेय आदि प्रायः सभी विद्वान मानते हैं, क्योंकि आत्फ्लीट द्वारा 1885 ई. तथा आ. डी.आर. भण्डारकर द्वारा 1913 ई. में दो शिलालेख प्राप्त हुए थे मंदसौर में।

मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये –
(मालवों की गणस्थापना से चार सौ वर्ष बीतने पर) तथा
श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते-
(कृतनामवाले प्रशस्त संवत् को श्रीमालवगण द्वारा वैदिक विधि से विहित–प्रवर्तित किए जाने पर)
एवं विक्रम संवत् को मालवगण ने प्रवर्तित किया, जिसका प्रथम प्रारंभिक नाम 'कृत' था।

– प्रशस्ते कृतसंज्ञिते –

इस शिलालिखित पुरातात्त्विक ऐतिहासिक तथ्य को सभी विद्वान एक मत से मानते हैं, उक्त पुस्तिका के तीनों लेखक और सम्पादक भी मानते हैं।

''यह कृत संवत् है, इसका ही दूसरा नाम मालव संवत् भी रहा है ... यह विक्रम संवत् से अभिन्न है।'' पृ. 4

अतः विक्रमसंवत् 'मालवगण–आम्नात' (वैदिक विधि से विहित) है, न कि किसी सम्राट या महाराजा द्वारा प्रवर्तित।

अब जिज्ञासा होती है कि उज्जयिनी का महाकाल–क्षिप्रा क्षेत्र का पुरातत्त्व भी, महाकवि कालिदास–साहित्य विशेषतः मेघदूत–रघुवंश की तरह, तथाकथित शक–विजेता, संवत्–प्रवर्तक मालव गणाध्यक्ष, कालिदास आदि के आश्रयों से विक्रमादित्य सर्वथा अनभिज्ञ क्यों हैं? इस पुस्तिका के 33 पुराप्रमाण, शक, मालवगण, कालिदासादिनवरत्न और संवत्–प्रवर्तन की ध्वनि भी क्यों नहीं देते हैं ? क्या शक विजय, संवत्–प्रवर्तन और शक विजेता, संवत्–प्रवर्तक महान् विक्रमादित्य नगण्य, उपेक्षणीय, व्यक्तित्व और घटनाएँ थीं ? विदिशा के नागवंश के सिक्कों का पुस्तिका में उल्लेख है, किन्तु मालवगण के 6000 सिक्कों का उल्लेख क्यों नहीं है? सर कार्लायल ने 1872 ई. में राजस्थानी रेंड उणियारा क्षेत्र से मालव–सिक्कों को प्राप्त किया था। इन सिक्कों पर मालवों के नाम, 'मालवानां जयः', 'मालव जनपदस' लिखे हैं। यदि महाकाल–क्षिप्रा क्षेत्र में 'मालवानां जयः' जैसा एक भी सील–सिक्का मिल जाता तो भी अनुमान लग सकता था कि मालवगण राजस्थान से ईसापूर्व उज्जैन आया, शकों को जीता और कृत संवत् चलाया था।

यह ज्ञातव्य है कि कालिदास और इस पुस्तिका दोनों के अनुसार, अवन्तिका और उज्जयिनी दोनों का मूलकेन्द्र महाकाल ही हैं, और परिधि में क्षिप्रा तथा गम्भीर नदियाँ आदि, और अन्तिम सीमा बनाती हैं। कालिदास का मेघ. उज्जयिनी की वर्णना क्षिप्रा से प्रारंभ करके गंभीरा पर समाप्त करता है।

क्षिप्रावातः .....गम्भीरायाः –1/31-40

रघुवंश में कालिदास लिखते हैं कि अवन्तिनाथ (जो उनका आश्रय नहीं है, क्योंकि उसे भी पौराणिक नायक अज के द्वारा पराजित, मूर्च्छित तथा पद दलित कराया गया है – 7/70) महाकाल के समीप रहते थे।

वसन्नदूरेकिल चन्दमौलेः – 6/34 रघु.

सारांश यही है कि महाकाल –क्षिप्रा परिक्षेत्र में शकों के पराजय फलत: संवत्–प्रवर्तन से, पुरातात्त्विक प्रमाण उसी प्रकार से मिलना चाहिए जैसे हूण राज मिहिरगुल के यशोधर्मा द्वारा पराजय फलत: विजय स्तम्भादि मन्दसौर के सोंधनी समरभूमि में आज भी मिलते हैं, यशोधर्मा के विजय गीत काव्य मिलते हैं किंतु विक्रमादित्य के विजय की पुरातात्त्विक ध्वनि भी क्यों नहीं मिलती ?

इसका उत्तर आधुनिक विद्वानों ने डॉ. वाकणकर आदि ने सीधे और वराहमिहिर आदि ने परोक्षतः दिया है। डॉ.वाकणकर ने 1917 ई. में लिखा है कि चूंकि विक्रमादित्य मालवगणाध्यक्ष था और चूंकि गणतंत्र में गण प्रधान होता है तथा व्यक्ति गौण होता है, अतएव विक्रमादित्य के नाम से सील–सिक्का लेखन आदि मिलना असम्भव है ठीक है तो ''मालवानां जयः''''मालवजनपदस'' जैसे पूर्वोक्त सील सिक्के क्यों नहीं मिलते ? इसका उत्तर आ. वराह मिहिर ने छठवीं सदी ई. में, उज्जैन (कायथा गांव) में रहते हुए बृहत्संहिता (4/26-27,14/27) में लिखा है कि सातवीं सदी

ई. तक मालवा मद्रकों की तरह उत्तर देश के निवासी थे, अर्थात् उज्जैन के निवासी थे ही नहीं तो उज्जैन में 57 ई.पू. शकों को हराने संवत् चलाने का प्रश्न ही नहीं उठता है। 57 ई.पू. में मालवगण जहाँ रहा वही संवत् चलाया है।

. इस विषय में सर्वसम्मत सत्य जैसे यह है कि विक्रमसंवत् को मालवों ने चलाया था, इसी प्रकार से यह भी सर्वसम्मत सत्य है कि मालवगण ई.पू. 150 से ईसवी सन् 350 तक पूर्वी राजस्थान जयपुर–टोंक क्षेत्र में रहा। समुद्रगुप्त से पराजित – पलायित होकर मालवगण दक्षिण मंदसौर की तरफ आए। यहाँ उनके 6 मालवसंवती लेख भी मिले हैं। उज्जैन में तो सातवीं सदी ई. में मालव जनता के रूप में आए, मालव गण सत्ता के रूप में नहीं। क्या सातवीं सदी ई. के बाण के पूर्व किसी ने भी क्षिप्रा या वेत्रवती
में मालव सुन्दरियों के जल विलास या सात्त्विक स्नान का संकेत भी किया है ? नहीं ।

यौवन मदमत्तमालवी कुचकलशलुलित सलिला – (शिप्रा)
मज्जनमालवविलासिनीकुचतटास्फालनजर्जरितोर्मिमाला – (वेत्रवती)

जब मालवगण या जन छठवीं सदी ई. तक उज्जैन आए ही नहीं तो वे 57 ई. पू. उज्जैन में शकों पर विजय और संवत्–प्रवर्तन कैसे कर देंगे ? 57 ई.पू. में मालवगण रेड़–उणियारा (जयपुर–टोंक) में थे, वहीं उनकी टकसाल थी, ऐसा कार्लायल ने लिखा है, अतः वहीं मालवों ने कृत – संवत् (सत्ययुग संवत्) चलाया था। इसीलिए वहीं 'मालवानां जयः', 'मालवजनपद' तथा 6000 ताम्रमुद्राएँ मिलीं उज्जैन में न मिलीं न मिलेंगी, क्योंकि दो अकाट्य हिमालयीन अलंघ्य कारण हैं –

1. उज्जयिनी के (कपित्थ ग्राम) मूल और स्थायी निवासी ज्योतिर्विज्ञानी 6वी सदी ई. के आ. वराहमिहिर तथाकथित विक्रमादित्य के सभारत्न ने शकसंवत् का प्रयोग किया है। विक्रम संवत् का प्रयोग क्यों नहीं किया ? आश्रय, शक विजेता विक्रमादित्य के प्रति कृतघ्नता क्यों दिखाई? क्योंकि उसके समय छठवीं सदी ई. तक मालवगण उज्जैन आए नहीं, मन्दसौर–टोंक–जयपुर क्षेत्र में ही रहे, तथा वहीं कृत संवत् 57 ई.पू. चलाया था, उज्जैन में नहीं था तथा

2. तथाकथित विक्रमसभारत्न महाकवि कालिदास, जो उज्जयिनी विहारी थे, प्रेमी थे, विरहिणी प्रियतमा की नगरी अलका की यात्रा छोड़ उज्जयिनी आए थे, उन्होंने आश्रय शक–विजेता, संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य को, मित्र नवरत्नों को, गुरुजनों को क्यों भुलाया, उपेक्षा की, अनुल्लेखनीय माना ? क्या यह कृतघ्नता पाप नहीं श्रेष्ठ संस्कृति का। श्रेष्ठ उद्गाता महाकवि क्या ऐसा जघन्य अपराध करेगा ? नहीं। वस्तुतः महाकवि उज्जैन आए ही थे, सौन्दर्य विहार के लिए।

लोलापांगैर्यदि न रमसे लोचनैर्वंचितोसि – मेघ 01/27

महाकवि के समय उज्जयिनी उदयन वासवदत्ता की प्रेमकथा से सुपरिचित थी, किन्तु विक्रमादित्य के शौर्य और संवत् प्रवर्तन कथा से सर्वथा अपरिचित थी। मेघदूत में कालिदास 6 प्रकार की नायिकाओं का 10 श्लोकों में वर्णन करते हैं, किन्तु विक्रमादित्य, गुरुजन, मित्रजन के लिए एक शब्द भी नहीं लिखते, क्यों ? क्योंकि उज्जैन में विक्रमादित्य थे ही नहीं। कालिदास और वराहमिहिर के समय मालवगण उत्तरीराष्ट्र था। वह जयपुर–टोंक–मंदसौर में था, उनके वहीं प्राप्त 6000 ताम्रमुद्राएँ और लगभग 13 शिलालेख प्रमाण हैं। क्या 5वीं सदी ई. के कालिदास और 6वीं सदी ई. के वराहमिहिर ये दो महाकवि और महान ज्योतिर्विज्ञानी स्वयं प्रमाण नहीं हैं कि 6वीं सदी ई. तक विक्रमादित्य या मालवगणाध्यक्ष उज्जैन में थे ही नहीं ? क्या कालिदास और वराहमिहिर के साक्ष्यों का अपलोप, अनदेखी करना शोध को शोभा देता है ? अतः 6 वीं सदी ई. तक मालवजन उज्जैन आए ही नहीं थे। अतएव मेघदूत में विक्रमादित्य का अनुल्लेख है।

इस पुस्तिका के 33 पुरा प्रमाणों का भी महत्त्व है। इन सील सिक्कों–लेखों का, 15 विक्रम, विक्रमस और 2 विक्रमादित्य का भी ऐतिहासिक सुस्पष्ट संकेत है। संकेत यह है कि उक्त 17 हों, विक्रम, विक्रमस और विक्रमादित्य में से एक भी मालववंशी नहीं है, अतएव संवत्–प्रवर्तक नहीं है, और न ही है शक विजेता तथा नवरत्नों का आश्रय। इस पुस्तिका के लेखकत्रय सहित विश्व इतिहास के विद्वान इस निर्विवाद सत्य तथ्य पर एकमत हैं कि मालवों ने ही जयपुर–टोंक क्षेत्र में 57 ई.पू. विक्रम संवत् चलाया था। चूंकि जब उक्त विक्रम, विक्रमस विक्रमादित्य मालववंश ही नहीं थे, जयपुर टोंक क्षेत्र में ही नहीं थे, अतएव संवती 57 ई.पू. वाले विक्रमादित्य मालवगणतंत्री नहीं थे।

वैसे 'महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ' का शोध्य, मालव गणतंत्री या गणाध्यक्ष विक्रमादित्य है भी नहीं, अपितु 'महाराजा' विक्रमादित्य शोध्य है, जिस 'महाराजा' को शोधने में पीठ सफल भी है, किन्तु डॉ. वाकणकर, डॉ. रा.ब.जी पाण्डेय, डॉ. हरिहर निवास द्विवेदी, डॉ. सूर्यनारायणजी व्यास आदि विद्वान गणाध्यक्ष गणतंत्री गणमुखिया संवती विक्रमादित्य को शोधने में विफल हैं सर्वथा। यह भी ज्ञातव्य है कि संस्कृत में शुद्ध महाराज है, महाराजा नहीं। 'महाराजा' तो स्थानीय बोली का शब्द है। कुछ बंधुजन कह सकते हैं कि मालवगण के सील–सिक्के भले न मिले हों, किन्तु 10 बार कतस विविध – विकृत वर्तनियों में तो मिलते हैं, जिसका अर्थ है विक्रमादित्य जैसे कदस, कतस, कद, तस, क्री (पृ. 11), कुतस (पृ. 10), कृद (पृ. 27), क्री (पृष्ठ : 28)। यह ज्ञातव्य है कि मालवों ने अपने सभी छहों कृतसंवत् के लेख संस्कृत में ही लिखें हैं, प्राकृत में नहीं 'कृत' (संवत्) शब्द का क्या अर्थ है ? इस पर सात आचार्यों के मत देखें –

1. आ. फ्लीटकृत का अर्थ कश्मीरी कृत्तीयराज गण करते हैं।
2. आ. के.बी.व्यास कृत का अर्थ कठ जाति करते हैं जिसने कठोपनिषद् लिखा था। इन्हें ग्रीकों ने कठाइन और ह्वेनसांग ने कित लिखा है।
3. आ. जगनलाल गुप्त कृत का अर्थ खींचतान कर शकों का कत्ल करते हैं।
4. आ. सूर्यनारायण व्यास कृत का अर्थ कृतवीर्य करते हैं।
5. आ. वि.श्री. वाकणकर ने सन् 1917 में लिखा है कि विक्रमादित्य चूंकि मालवगणाध्यक्ष था, राजा महाराजा नहीं था, अतः उसके नाम से सील–सिक्के लेख मिलना संभव नहीं है, किन्तु बाद में गढ़कालिका उज्जैन में कतस उज्जैनी सील मिलने पर डॉ. आर.सी. मजूमदार की संभावना के आधार से कतस का अर्थ विक्रमादित्य मान लिया था।
6. आ. अल्तेकर कृत का अर्थ मालवगणमुखिया का व्यक्तिवाचक नाम किया था, जिसे इस पुस्तिका ने भी स्वीकारा है, किन्तु
7. आ.डी.आर. भंडारकर ने आ. अल्तेकर आदि के मत को, मालवों के ही शिलालेख के द्वारा अतीव प्रामाणिक अतः प्रशंसनीय ढंग से खंडित किया है और पूछा है कि क्या 282 गणाध्यक्ष (व्यक्ति) हो सकते हैं ? नान्दसा शिलालेख है,

कृतयोर्द्वयोर्वर्षशतयोर्द्व्यशीतयोः चैत्र पूर्णमासीम्

विक्रम वाल्यूम पृ. 133

यह 282 वें कृतसंवत् का नान्दसा शिलालेख है। यह एक शिलालिखित प्रमाण उक्त छहों मान्यताओं को निरस्त

कर देता है, क्योंकि गणाध्यक्ष या गणनेता या गणमुखिया एक ही होता है, 282 नहीं। एवं कृत मुखिया का नाम न होकर संवत् का नाम है जिसका अर्थ है सत्ययुग।

इसके अलावा, मालवों के 6000 मुद्राओं पर मालवों के जो 20 नाम विंसेंट स्मिथ ने पढ़े–लिखे हैं, उनमें भी कृत, क्रम या विक्रम या विक्रमादित्य नाम नहीं ही है। ऐसी प्रामाणिक पुरातात्त्विक तथ्यात्मक स्थिति में 'कृत' का अर्थ विक्रमादित्य मानना प्रत्यक्ष प्रमाणों को अपहस्वित करना है और अपने पूर्वाग्रह के प्रति आसक्ति दिखाना है, जो शोध में हेय है एवं विदिशा के नागवंशी कतस सिक्कों का प्रकाशन अनपेक्षित है। मालवगण के सिक्कों का प्रकाशन अपेक्षित है।

इसके अलावा मालवों ने सभी अपने कृत संवती शिलालेखों में शुद्ध संस्कृत शब्द 'कृत' लिखा है। एक बार भी प्राकृत में नहीं लिखा है, जबकि इस पुस्तिका के सभी दसों कतस अतीव प्राकृत में, जैसे कुतस, कदस, कृद आदि लिखे हैं। क्या संस्कृत साहित्य का मर्मज्ञ, रसिक तथा कालिदास, अमरसिंह, वराहमिहिर जैसे महान रचनाकारों का आश्रय विक्रमादित्य अपना
शुद्ध नाम भी नहीं लिख–लिखवा सकता था ? अतः संवती तथा कालिदासादि का आश्रय, संस्कृत प्रेमी विक्रमादित्य, इन कतस, कदस, कुतस नाम वाले विक्रमस से भिन्न था। पुस्तिका का यह विक्रमस तो शुद्ध–शुद्ध संस्कृत में उज्जयिनी भी नहीं लिख–लिखवा सकता था। यह उज्जयिनी को अतीव प्राकृत की चार वर्तनी में लिखता है – उजेनिय (पृ. 10), उजेनि, उजेनियि तथा उजनी (पृ. 10)। अपना नाम भी अपूर्ण और बार–बार अशुद्ध लिखता है। आखिर यह अपना पूरा नाम विक्रमादित्य अँवलेश्वरवत् क्यों नहीं लिखता ? क्या समय और स्थान की कमी है सम्राट के पास ? नहीं। वस्तुतः विक्रमस और अँवलेश्वर का विक्रमादित्य सर्वथा पृथक् पृथक् है। एवं विक्रम और विक्रमस भी पृथक् पृथक् मालूम पड़ते हैं। वस्तुतः ये तीनों (विक्रमादि) उपाधियाँ है, मूलनाम भी यही उनके मिलते हैं, जैसे –

1. राजो श्री पंथानं की उपाधि	विक्रमादित्य पृ. 14
2. परवतन्द्र की उपाधि	विक्रम पृ. 24
3. रुद्रसमहव की उपाधि	विक्रम पृ. 23
4. श्री गोतमप्रवीर	विक्रम पृ. 21
5. देसभानेस	विक्रम पृ. 21
6. राज्ञो वीराकम	विक्रम पृ. 20
7. हरभव	विक्रम पृ. 22 इत्यादि।

अतः ये विक्रम विक्रमस और विक्रमादित्य वैसी ही उपाधियाँ है जैसे मीराजी के देवर का उपमान था। विक्रमादित्य और हैं, भोजोत्तर।

इन सील–सिक्कों लेखों की लिपि तथा भाषा को संस्कृत (पृ. 14) और ई.पू. ब्राह्मी लिखना सर्वथा भ्रामक है। अँवलेश्वर लेख की भाषा प्राकृत है। पहली ही पंक्ति देखिए।

वेदम्म कद ज ह प्रविध्रेम गज, दत .. प्रदत्त नृ कु द भ..ग इत्यादि।

इनका अर्थ सर्वथा अज्ञेय है। खींचतान करना अलग बात है। दो चार शब्द अवश्य ही शुद्ध संस्कृत हैं, किन्तु वाक्यरचना सर्वथा अस्पष्ट है। जो राजा,शुद्ध उज्जयिनी, शुद्ध कृत, शुद्ध विक्रमादित्यः, शुद्ध विक्रमः आदि नहीं

लिख सकता, वह संस्कृत–साहित्य का मर्मज्ञ रसिक होगा, कालिदास आदि महान रचनाकारों का आश्रय होगा। ऐसा अर्थ करना कंकणों में शिवलिंग और शालिग्राम देखना है, श्रद्धा तो चलेगी, किन्तु शोध नहीं।

लिपि–विषयक तथ्य यह है कि देवनागरी लिपि के विकास के पूर्व सभी लेख ब्राह्मी लिपि में हैं, सूक्ष्म अन्तर अवश्य है जो लिपि विशेषज्ञ बतायेंगे, किन्तु तिथि–निर्णायक तत्त्व केवल लिपि नहीं है, अपितु –

1 कला

2. संस्कृति

3. भाषा

4. दर्शन – आदि भी निर्णायक तत्त्व हैं, जैसे शिखरी मंदिर 5वीं सदी ई. से ही मिलते हैं। तत्पूर्व एक कमरा, तत्पूर्व गुहालय मिलते हैं। गणेश मूर्तियाँ 5वीं सदी ई. के पूर्व और शिवगण भैरव–शिल्प श्वान सहित7वीं सदी ई. के पूर्व साहित्य–शिल्प दोनों में अप्राप्त हैं, पद्मनाभ लक्ष्मी नारायण की मूर्ति, साहित्य और शिल्प दोनों में 4-5 वीं सदी ई. के पूर्व सर्वथा अप्राप्त है। चूंकि इस पुस्तिका पृ. 22 पर 11 वीं मुहर में भैरव और उनका श्वान शिल्पित है, यह शैवगण सर्वसम्मति से 7 वीं सदी ई.
का या परवर्ती है, अतः इसे ई.पू. ब्रह्मी लिपि के तर्क से ई.पू. कर ही नहीं सकते। अतः लिपि तर्क सर्वथा उज्जयिनी – चिह्न की तरह भ्रामक है। इसी प्रकार यहीं 10 वीं मुहर पर 'ओमस्वस्ति' लिखा है। इस प्रणव मंत्र की लेखन शैली अतीव परवर्ती है। पूर्ववर्ती शैली में ॐ लिखा जाता है। ओम तो व्याकरण से भी अशुद्ध है, प्रणव का उच्चारण उ का प्लुत रूप है, न कि सस्वर अकारान्त मकार सहित ओम्। ओम् लेखन और उच्चारण दोनों भोजोत्तर हैं।

उज्जयिनी चिह्न के विषय में सभी विद्वान एकमत हैं कि यह सातवाहनों के समय और सत्ता का प्रमाण है। आ.स.का. दीक्षित अपने ग्रंथ उज्जैनी–इतिहास तथा पुरातत्त्व, 1968 ई. में लिखते हैं कि ई.पू. उज्जैन में सातवाहनों की सत्ता थी तथा आ. आर.डी.बनर्जी उस समय शकराज नहपान की सत्ता मानते हैं, मालवों का या विक्रमादित्य का गणतंत्र नहीं मानते। अतः ये उज्जयिनी चिह्न –जिन्हें वि.स्मिथ ने अवन्ती चिह्न लिखा है, सातवाहनों के हैं, उनकी सत्ता–संस्कृति के प्रमाण हैं और ईसा की दूसरी–तीसरी सदी है, न कि 57 ई.पू. की। गौतमीपुत्र शातकर्णि द्वितीय सदी ई. का सातवाहन सम्राट् था। इसने सर्वप्रथम शकों को परास्त किया था, उसके बाद समुद्रगुप्त (340 ई.) और फिर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने 484 ई. में। अतः उज्जयिनी या अवन्ती चिह्न सातवाहनों की सत्ता–संस्कृति का प्रमाण है, न कि संवती विक्रमादित्य का या मालव–गणाध्यक्ष के शासनतंत्र का।

उक्त 33 पुरा–प्रमाणों में 5 बार विक्रमस 10 बार विक्रम और 2 बार विक्रमादित्य उपनामों का प्रयोग सुस्पष्ट है। इन उपनामों में संवती,नवरत्नी, शकविजेता मालवगणाध्यक्ष विक्रमादित्य देखना वैसी ही संभ्रांति है, जैसे ज्योतिर्विदाभरण के लेखक कालिदास को रघुकार मानना।

काव्यत्रयं सुमतिकृद् रघुवंशपूर्वं जातं ततोननुकियच्छ्रुतिकर्मवादः।
ज्योतिर्विदाभरण कालविधानशास्त्रं श्रीकालिदास कवितो हि ततो बभूव॥ 22/10

कालिदास के नाम से 41 पुस्तकें हैं। इनमें 7 रचनाओं–विक्रमो., मालविका., शाकुन्तलम्., ऋतु., मेघ., कुमार. तथा रघु. को छोड़ शेष 34 पुस्तकों – सेतुबंध, नलोदय, घटरवर्पर, राक्षसकाव्य, कुन्तलेश्वरदौत्य, आदि के भी

रचयिता कालिदास हैं। इन 34 कालिदासों को क्या रघुकार, कोई भी विद्वान आज मानता है ? आज तो डॉ. रे.प्र. द्विवेदी ऋतुसंहार को भी रघुकार कालिदास की रचना नहीं मानते हैं। सारांश यही है कि जैसे 35 कालिदासों को रघुकार आज का विद्वद्वर्ग नहीं मानता है, तथैव उक्त सील–सिक्कों वाले 17 विक्रम– विक्रमस–विक्रमादित्यों को संवती, मालवगणाध्यक्ष, शक–विजेता, नवरत्नी विक्रमादित्य मानने का एक भी हेतु नहीं है।

एवं इसे पुस्तिका का विक्रमादित्य और विक्रमस–विक्रम।

1. उज्जयिनीश्वर होने के बजाय राजस्थानी प्रतापगढ़ीश्वर है।
2. शकविजेता, संवत्–प्रवर्तक होने के बजाय, जलाशय निर्माता है।
3. नवरत्नाश्रय होने के बजाय मात्र मूलदेव का आश्रय है, जिसे परम्परा सर्वथा नहीं जानती है।
4. संस्कृत साहित्य मर्मज्ञ एवं रसिक होने के बजाय प्राकृत का भी सामान्य ज्ञानी नहीं है क्योंकि शुद्ध ''कृत'' भी लिखने के बजाय, प्राकृत मे उस कतस को भी 7 वर्तनी में लिखता है और उज्जयिनी को प्राकृत की चार वर्तनी में लिखता है, अपना उपनाम भी तीन वर्तनी में लिखता है, अपने को शुद्ध राजा लिखने के बजाय राजों, राज्ञो लिखता है, राजा भी लिखता है।
5. मालवगणाध्यक्ष होने के बजाय 'राजा, महाराजा' है और नागवंशी है, अर्थात् गणतंत्री होने के बजाय राजतंत्री है।
6. तथाकथित नवरत्नी कालिदास भी इन्हें नहीं जानते हैं।
7. तथाकथित नवरत्नी वराहमिहिर भी इनके विक्रमसंवत् के बजाय इनके पराजित शत्रु शकों के संवत् का प्रयोग करते हैं, एवं इन्हें नहीं जानते हैं।
8. उज्जयिनी ने भी 1193 वर्षों के बाद विक्रम को याद किया, विक्रम संवत् का प्रयोग किया, तत्पूर्व वराहमिहिर के शकसंवत् का प्रयोग करती रही वह –
9. उज्जयिनी ने विक्रम के पराक्रम (शकों पर विजय) को कभी नहीं जाना। किन्तु उदयन–वासवदत्ता की शृंगारिक लीला को सदा याद रखा। इन सब हेतुओं से 57 ई.पू. संवती विक्रमादित्य का मालवगणतंत्र उज्जैन में प्रमाणित नहीं होता है अपितु विविध तीर्थ कल्प, प्रबंध कोश, जिनप्रभसूरि रचित प्रतिष्ठानपुराकल्प, द्वात्रिंशत्पुत्तलिका तथा श्रीवेलंकर के पांच अन्य ग्रंथों के अनुसार विक्रम को शालिवाहन या सातवाहन ने ही मार दिया था। (विक्रम स्मृति. पृ. 182, 154, 664, 5) जिसे इस पुस्तिका में छिपाया गया है (पृ. 16)। उज्जयिनी के अतिविशिष्ट महन्त ने भी इसकी पुष्टि की है। शोध में सत्य (नारायण) सर्वोपरि होता है , तभी जब मोह (पूर्वाग्रह) से मुक्ति हो। विस्तृत साक्ष्य हेतु मेरा डी.लिट. प्रबंध 'कालिदास–तिथि संशुद्धि' समीक्षणीय है।

(निवृत्त प्राचार्य शा. महा. वि. संस्कृत प्राध्यापक)
45, पत्रकार नगर, भोपाल–3
मो. 9425648167
घर – 2553567

अनुपूरक

डॉ. जे.एन. दुबे

डॉ. रामचन्द्र तिवारी द्वारा विक्रमादित्य और पुरातत्त्व पुस्तिका के विक्रमादित्य एवं प्रकाशन पर की गई विस्तृत समीक्षा का उत्तर –

1) पुरातत्त्व नामक प्रकाशित पुस्तिका में 10 सिक्के, 18 मुहरें एवं मूलदेव की मुहर, सिक्का व पात्र तथा अँवलेश्वर स्तम्भ चौकी लेख के प्रमाणों को डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने विक्रम, विक्रमस और विक्रमादित्य उपाधि वाले राजा मानकर इन उपाधियों से युक्त राजाओं को भोजोत्तर लगभग ग्यारहवीं सदी के मध्य के बाद मान्य किया।

1. विक्रमादित्य शक विजेता था – इनका प्रमाण –
   विक्रम, विक्रमस और विक्रमादित्य उपाधिधारी राजा।

पृष्ठ – 1

भोजोत्तर थे – यहाँ विक्रम या विक्रमादित्य शासक का नाम है, उपाधि नहीं। तथा ये नाम प्राकृत भाषा व ब्राह्मी लिपि में अंकित हैं। ग्यारहवीं सती में ब्राह्मी लिपि नहीं थी। नागरी लिपि थी।

1. शक विजेता था – जैन परम्परा कालकाचार्य कथानक, ज्योतिर्विदाभरण कालिदास
   शक–सिक्के – कृष्णदत्त वाजपेयी
   खरोष्ठी इन्स्क्रिप्शन्स – स्टेनकोनो
   स्टोरी ऑफ कालक – नार्मन ब्राउन, रेप्सन, केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया।
2. संवत् प्रवर्तक: – शकानां वंशमुच्छिद्य
   विद्वानों के विभिन्न मत –
3. डॉ. वाकणकर के अनुसार वह मालवा गणाध्यक्ष था।
4. उसने अपनी राजधानी उज्जैन से संवत् चलाया था तथा उसकी सभा में कालिदास आदि रत्न थे। यह परम्परा कहती है।
5. मालवगण की स्थिति स्थापना कर मालवा–संवत् कृतनाम से प्रवर्तित

(डॉ. रामचन्द्र तिवारी के विक्रमादित्य और पुरातत्त्व (महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ द्वारा प्रकाशित) पुस्तक के तथ्यों के संबंध में जो प्रश्नात्मक संदेह किये गये हैं उनका समाधान इस लेख में पुराविद् डॉ. जगन्नाथ दुबे ने उनके पत्र के क्रमानुसार किये गये हैं। उससे अन्य पाठकों का भी भ्रम दूर होगा।

यह उल्लेखनीय है कि इस पुस्तक में प्रकाशित तथ्यों को देश के मान्य पुराविदों ने भी मान्य किया है। उनमें डॉ. सीताराम दुबे (बी.एच.यू.के प्रा.भा.इ. पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष), डॉ. सुष्मिता पाण्डे (अध्यक्ष प्राचीन भारतीय इतिहास, विक्रम विश्वविद्यालय), डॉ. नारायण व्यास (केन्द्रीय पुरातत्त्व, दिल्ली के निवृत्त अधिकारी), डॉ. जय प्रकाश (केन्द्रीय पुरातत्त्व लखनऊ में अभिलेख व लिपि विभाग के सुपरिंटेंडेंट) सहित कई विशेषज्ञ हैं। वे सब एक मत से इस पुस्तक में प्रकाशित तथ्यों की पुष्टि करते हुए ईसवी पूर्व प्रथम शती के उज्जैन के राजा विक्रमादित्य को मान्य करते हैं।

मालवगण के सिक्कों का उल्लेख इसके पूर्व प्रकाशित ''पुरातत्त्व में विक्रमादित्य'' नामक पुस्तक के पृष्ठ 11 से 14 तक किया गया है, इसमें मालवा सिक्कों के चित्र भी प्रदर्शित हैं।

मालवगण के सिक्के डॉ. वी.श्री. वाकणकर जी को भर्तृहरि गुफा के समीप पीपल खोदरा नाले से मिले थे। मालवगण के अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर में भी सिक्के हैं ।

कतस – सिक्के मृण्मयी मुद्राओं (प्रथम सदी ई.पू.) पर अंकित मिलता है। एक सिक्के पर ''विक्रम'' नाम के साथ ही ''कतस'' लेख अंकित है तथा उसी के साक्ष्य के आधार पर विक्रमादित्य को कृत संवत् प्रवर्तक माना गया है।

प्राकृत भाषा और लिपि –

1. प्राकृत भाषा एवं ब्राह्मी लिपि के शिलालेख मौर्य शासक अशोक के शासन काल से सम्पूर्ण भारतवर्ष में मिलते हैं। अशोक के समय के उज्जैन में वेश्या टेकरी स्थित तथा अन्य स्तूप व उनके अवशेष प्राप्त हुए हैं । उनमें दान दाताओं के नाम प्राकृत भाषा व ब्राह्मी लिपि में अंकित हैं। उज्जयिनी के नगर–राज्य के सिक्कों पर भी प्राकृत भाषा व ब्राह्मी लिपि में नाम ''उज्जयिनी'' अंकित है। (एलन कैटलॉग ऑफ दि क्वायन्स ऑफ एंशियण्ट इंडिया, ब्रिटिश म्यूजियम, लन्दन, पृष्ठ 262, वर्गन, क्रमांक 134-137 तक प्लेट क्रमांक 37, मुद्रा सं. 14, 15 व 16)

दूसरी सदी ईसा पूर्व व उसके बाद के उज्जयिनी के स्थानीय एवं सैन्य शासकों तथा रथिमदन, सवितस, राज्ञो दतस व अन्य शासकों जैसे राज्ञो भानुमितस, भूमिमितस आदि सिक्कों पर भी विविध प्रतीक तथा उनके नाम प्राकृत भाषा व ब्राह्मी लिपि में ही अंकित मिलते है। सातवाहन वंश के शासकों के समस्त शिलालेख व सिक्कों पर प्राकृत भाषा व ब्राह्मी लिपि प्रारंभिक काल से लेकर 2 सदी ई. तक प्रयुक्त होती रही। तत्कालीन जनभाषा प्राकृत थी। सील सिक्के शिलालेख जनता के लिए होते हैं। अतः जनता की भाषा और लिपि का ही उन पर अंकन होता है। इसीलिए प्रथम सदी ईसा पूर्व के जितने भी अभिलेख अथवा सिक्के उज्जैन या मालवा के अन्य स्थलों से प्राप्त हुए हैं, उन पर प्राकृत भाषा व ब्राह्मी लिपि अंकित है। इस कारण विक्रम अथवा विक्रमादित्य के प्राप्त पुरातत्त्वीय अभिलेखों, सिक्कों और सीलों पर ब्राह्मी लिपि व प्राकृत भाषा में ही विभिन्न नाम और कृत के विभिन्न स्वरूप मिलते हैं। इसका एक उल्लेखनीय कारण प्राकृत भाषा जन साधारण से सम्बद्ध थी। उज्जयिनी चिह्न अशोक जब उज्जयिनी का राज्यपाल था उसने उज्जैन प्रान्तीय राजधानी होने के कारण यहाँ टकसाल स्थापित की तथा अपने सिक्कों के पृष्ठ भाग पर उज्जयिनी चिह्नांकित सिक्के ढलवाये। तत्पश्चात् यह चिह्न इतना प्रसिद्ध हुआ कि अन्य जनपदों , कौशाम्बी, मथुरा, मालवगण, यौधेयगण आदि ने अपने सिक्कों पर उज्जयिनी चिह्न अंकित करवाया। सातवाहन शासकों के सिक्कों पर यह चिह्न निरंतर दूसरी सदी ई. तक तथा शक–क्षत्रप शासक चष्टन के सिक्के पर अंकित मिलता है। दूसरी सदी ई. के पश्चात् उज्जयिनी चिह्न अंकित नहीं मिलता है। उज्जयिनी चिह्न उज्जैन की टकसाल से सर्वप्रथम ढले सिक्कों से प्रारंभ हुआ है तथा मालवा के स्वतंत्र शासकों ने अपने सिक्कों पर इसे प्रयुक्त किया है। यह चिह्न अधिक प्रचलित होने के कारण विक्रमादित्य के सिक्कों व मुद्रांकों पर भी अंकित मिलता है। तथा ये सिक्के उज्जैन की टकसाल से ही प्रचलित हुए थे। सातवाहनों की सत्ता–संस्कृति से इस चिह्न का कोई लेना–देना नहीं है।

पृष्ठ – 3

विक्रमादित्य द्वारा शकों को पराजित करने का प्रमाण जैन परम्परा – कालकाचार्य कथानक, प्रभावक चरित और

कालिदास के ज्योतिर्विदाभरण तथा भविष्यपुराण में प्राप्त है। सिक्कों (शकों के) के आधार पर भी विद्वानों ने शकों को पराजित करने के विषय में प्रयास किया है।

डॉ. वाकणकर ने 1917 ई. में कहाँ लिखा है ? उनका जन्म 1 मई 1919 ई. का है। उन्होंने सर्वप्रथम कतस उजेनिय नामक

मृण्मयी मुद्रा गढ़कालिका से 1975 ई. से प्राप्त की तथा उसका प्रकाशन 1979 में जर्नल न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया में हुआ तथा इसी समय से विक्रमादित्य व कृत संवत् सम्बंधी पुरातत्त्वीय प्रमाण प्रकाश में आने लगे। इस क्षेत्र के समीप पीपल खोदरा नाले के समीप एक प्राचीन टीले से आहत, मुद्राएँ , ढली ताम्र–मुद्राएँ और मालव मुद्राएँ प्राप्त हुईं। प्राचीन उज्जयिनी के पुरावशेष गढ़कालिका क्षेत्र के पुरातत्त्वीय उत्खनन में प्राप्त हुए।

पृष्ठ – 4

1. अशोक के पान–गुराड़िया शिलालेख में माणेम (मालव) नाम आया है।
2. सिक्कों की मुद्रा –निधि से यह प्रकट होता है कि ये सिक्के टकसाल से निकलने के पश्चात् एकत्र कर रख लिये गये। इन 6000 मुद्राओं के संग्रह के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि जिस स्थान से ये सिक्के प्राप्त हुए हैं, वहां टकसाल रही हो, सिक्के कहीं से भी (अन्य स्थानों से) आ सकते हैं।
3. छठी सदी ई. ज्योतिर्विज्ञानी वराहमिहिर ने मालवा में शासन रत पश्चिमी शक–क्षत्रप शासकों जैसे रुद्रदामन का जूनागढ़ अभिलेख – 72 संवत् तथा इन शासकों के अन्तिम शासक रुद्रसिंह तृतीय के सिक्कों पर अंकित तिथियों के आधार पर प्रचलित शक संवत् को ही अपनाया।
4. महाकवि कालिदास के मेघदूत में प्रमुखतः नायिकाओं, नदी तटों के वन, उपवनों तथा धार्मिक स्थलों का वर्णन ही उनका प्रमुख ध्येय रहा है, उसमें किसी नगर के शासक के नाम वर्णन करने का प्रश्न उपस्थित नहीं होता है।

पृष्ठ – 5

मालवों के जयपुर–टोंक क्षेत्र में 57 ई.पू. में विक्रम संवत् चलाने का क्या कारण था ? जबकि मालवगण के सिक्के 150 ई.पू. से प्राप्त होते हैं । मालवगण ने किस पर विजय प्राप्त की और विक्रम संवत् नाम लेकर यह संवत् क्यों चलाया ? मालवा नाम से मालव संवत् क्यों नहीं ? राजस्थान के जितने भी अभिलेख प्राप्त हुए उनमें कृत, कृतेहि व कृतेकु नाम अंकित मिलते हैं ''मालव'' नाम नहीं। जयपुर –टोंक क्षेत्र में निवास करते हुए उन्होंने अपने संवत् का नाम मालव क्यों नहीं दिया और दशपुर (मंदसौर) में गुप्त–शासकों के शिलालेखों में 'मालवगण स्थित्या' को प्रदर्शित किया जबकि यह क्षेत्र गुप्त–शासकों के शासन के अन्तर्गत था।

जिन विद्वानों के नामों का उल्लेख किया गया है, ये पुरातत्त्व साधन–स्रोत उस समय उपलब्ध नहीं थे। सन् 1975 के पश्चात् इसकी क्रमशः उपलब्धि हुई है।

पृष्ठ – 6

अभिलेख, सिक्के, मुद्रा एवं मृण्मयी मुद्रांक पर प्राकृत भाषा व ब्राह्मी लिपि (प्रथम सदी ई.पू.) एवं कहीं संस्कृत भाषा के भी शब्द अंकित हैं । यदि सिक्कों पर विक्रम के साथ ही कतस (कृत) अंकित है तो उसका अभिप्राय विक्रम एवं कृत संवत् से ही संयुक्त किया जा सकता है।

मालवगण सम्बंधी सिक्कों का प्रकाशन 'पुरातत्त्व में विक्रमादित्य' नामक पुस्तक में हुआ है।

पृष्ठ – 7

ये सिक्के, अभिलेख एवं मृण्मयी मुद्राएँ प्रथम सदी ई.पू. की हैं। अतएव इन पर प्राकृत भाषा एवं ब्राह्मी लिपि में ही

लेख अंकित हैं, संस्कृत भाषा में नहीं। मालवों के कृत संबंधी अभिलेख–संवत् 282 से लेकर 481 कृत संवत् तथा उपरोक्त वर्णित अभिलेख, सिक्के एवं मुद्राएँ प्रथम सदी ई.पू. के हैं। उस समय का वेसनगर (विदिशा) का गरुड़ स्तम्भ लेख उच्चतम आदर्श है। वह
भी प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण है। यह प्राकृत भाषा उस समय जन–साधारण को वोधगम्य था क्योकि उस समय की यह जन भाषा थी।

जॉन एलन ने अपने कैटलॉग क्वायन्स ऑफ इण्डिया इन ब्रिटिश म्यूजियम, लन्दन में उज्जयिनी के सिक्के प्रकाशित किये हैं । उन सिक्कों के वामभाग पर लेख ''उजनियि'' अंकित है। (पृष्ठ 262, वर्ग – 7 संख्या 134, 135 व 136, प्लेट क्र. 37 संख्या 14-15) जो सिक्के अभी मिले हैं उन पर प्राकृत भाषा में लेख–उजयी, उजेनि, उजयिनी अथवा उजयीनी, उजेनिया अंकित है। प्राकृत में लेख इसी प्रकार प्राप्त होते हैं।

विक्रमादित्य या विक्रम सम्बंधी जो प्राचीन कथानकों का उल्लेख मिलता है उसमें ये उपाधियाँ भी रही हों। जो सिक्कों पर अंकित हैं विक्रम, विक्रमस और विक्रमादित्य शासक का मूल नाम है। इसे उपाधियाँ नहीं कहा जा सकता। ये सभी नाम अभिलेखों, सिक्कों और मुद्रांको पर प्रथम सदी ईसा पूर्व की प्राकृत भाषा व संस्कृत दोनों में पाये जाते हैं। अतएव इनका उपनाम व उपाधियों से किसी प्रकार का कोई सम्बंध होना संभव नहीं है।

पृष्ठ – 8

इन लिपि– विशेषज्ञों के निर्णय के आधार पर ही ये नाम दिये गये हैं। (डॉ. सीतारामजी दुबे – आचार्य , प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्त्व बनारस विश्वविद्यालय, बनारस, डॉ. सुष्मिता पाण्डे, आचार्य एवं अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व अध्ययन शाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन, डॉ. जयप्रकाश सुपरिंटेंडेंट इपिग्राफिस्ट, लखनऊ, डॉ. नारायण व्यास, सेवा निवृत्त सुपरिंटेंडेंट आर्क्यालाजिस्ट, सेन्ट्रल सर्कल आर्क्यालाजी, दिल्ली)।

उज्जयिनी परिक्षेत्र से एक मुख शिव, विविध रूपों और विविध आयुधों तथा नन्दी के अंकन सहित है। त्रिमुखशिव दण्ड–कमण्डलु धारण किये अंकित है। उमा–महेश्वर (कल्याण–सुन्दर) स्वरूप भी इन मुद्राओं पर अंकित है। इस प्रकार के सिक्के केवल उज्जयिनी परिक्षेत्र में ही मिलते हैं, भारत में अन्यत्र नहीं हैं तथा ये सिक्के विद्वानों के मतानुसार ईसा–पूर्व प्रथम–दूसरी के हैं। ये सिक्के बहुल रूप में प्राप्त हैं। इस कारण इस मुद्रांक पर अंकित भैरव तथा ब्राह्मी लिपि लेख के आधार पर इसे प्रथम सदी ई.पू. का कहा गया है।

उज्जयिनी चिह्न (अन्य पृष्ठ पर)

समुद्रगुप्त ने शकों को किस क्षेत्र में हराया, वे कहाँ शासन कर रहे थे ? मालवा पर नाग–वंश के शासक भव नाग तत्पश्चात् गणपति नाग 310 ई. से लेकर चौथी सदी ई. के मध्य नागों का शासन था। गणपति नाग के सिक्के 1913-14, 1914-15 के वेसनगर उत्खनन में मिले हैं। डॉ. वि.श्री. वाकणकर शोध संस्थान, उज्जैन, अश्विनी शोध संस्थान, महिदपुर और इन्दौर के कई व्यक्तिगत मुद्रा–संग्रहों में गणपति नाग के असंख्य सिक्के संग्रहित हैं। भाव शतक में उसे धाराधीश कहा गया है । अतएव गणपति नाग मालवा का एक शक्तिशाली शासक था । उसे समुद्रगुप्त ने हराया (प्रयाग–प्रशस्ति)। यदि समुद्रगुप्त ने मालवा के शासक गणपति नाग को पराजित किया तो चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को किस क्षेत्र में हराया। (पृष्ठ 8 पर चन्द्रगुप्त – विक्रमादित्य का शासन काल 376 से लेकर 414 ई. तक है। पत्र में तिथि 484

ई. दी गई है)। यह उल्लेखनीय है कि विद्वानों ने जिस शक राजा रुद्रसिंह तृतीय को पराजित करने का अनुमान किया है। वह तो 415 ई. में कुमार गुप्त के समय भी विद्यमान था। देवीचन्द्रगुप्त नाटक के अतिरिक्त चन्द्र द्वारा शक विजय का अन्य पुरातत्त्वीय प्रमाण नहीं है।अतः नाटक में काल्पनिक घटना है।

पृष्ठ – 9

ज्योतिर्विदाभरण के कालिदास और विक्रमादित्य से सम्बद्ध प्रकाशित पुरातत्त्व साक्ष्यों से कोई लेना–देना नहीं है। वर्तमान में सन् 1975 के पश्चात् जितने भी विक्रमादित्य सम्बंधी सिक्के, अभिलेख, मुद्रा और मुद्रांक मिले उन पर पूर्ववर्ती लेखकों के मतों को लेकर तथा परीक्षणोपरान्त यह प्रकाशन किया गया है। इस प्रकाशन के पूर्व भी विद्वानों से अभिमत प्राप्त किये गये हैं।

1. पुरातत्त्व साक्ष्यों के आधार पर विक्रमादित्य, विक्रम तथा विक्रमस उज्जैन नगर का शासक निर्धारित किया गया है।
2. जैन परम्परा – कालकाचार्य कथानक के आधार पर वह शक–विजेता कहा गया है। सिक्कों पर कृत (संवत् प्रथम सदी ई.पू.) और तदनन्तर अभिलेखों विभिन्न रूपों कृत, मालव तथा उसका परिवर्तित रूप विक्रम संवत् ही सर्वमान्य है। अब तो विक्रम संमत 8 अंकित एक चकरावदा से मूर्तिलेख भी प्राप्त हो गया है।
3. विक्रमादित्य का सभासद मूलदेव था उसके पुरातत्त्वीय प्रमाण–सिक्कों, मुद्रांक और मृण्मात्र पर अंकित उसका नाम है इन सब की लिपि व प्रतीक ईसवी पूर्व के हैं।
4. तत्कालीन प्रथम सदी ई.पू. में संस्कृत मिश्रित या प्राकृत भाषा एवं ब्राह्मी लिपि में ही अभिलेख, सिक्के, मुद्रा एवं मुद्रांक का प्रयोग सम्पूर्ण मालवा (भारत) में मिलता है।
5. सिक्कों पर ''राजा'' उपाधि प्रायः अंकित है। इस प्रकार की उपाधि विक्रमादित्य के पूर्व शासकों राज्ञो सिवगुतस (विदिशा से प्राप्त सिक्कों पर राज्ञो नारायणमिसस– एवं प्राकृत भाषा होने के कारण शासकों के नामान्त में स अक्षर प्रयुक्त मिलता है जैसे दामभदस, वसुमितस, भानुमितस आदि। इसी प्रकार मुद्रांक पर विक्रमस अंकित मिलता है। उसके नागवंशी होने का कोई प्रमाण नहीं है। वह विशुद्ध रूप से ''महाराजा'' है।

7-8 वराहमिहिर ने मालवा में शक–क्षत्रप शासकों द्वारा अपने अभिलेखों और सिक्कों पर अंकित परम्परा का निर्वाह कर शक–संवत् प्रयुक्त किया है। ज्योतिष् परम्परा में शक शब्द संवत् वाचक भी है।

9. उज्जयिनी ने ही नहीं वरन् मालवा के जन–साधारण ने भी विक्रमादित्य की शकों पर विजय (पराक्रम) को अनुश्रुतियों, लोक साहित्य व वर्तमान में पुरातत्त्व साक्ष्यों के आधार पर जाना। यह विक्रमादित्य से सम्बन्धित पुस्तक पुरातत्त्व की वर्तमान में उपलब्ध मूल–सामग्री को लेकर प्रकाशित की गई है। समीक्षा संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान द्वारा की गई है जो 'विक्रमादित्य और पुरातत्त्व' पुस्तक के प्रकाशन पर है। यह प्रकाशन उनकी विचार धारा से मेल नहीं खाता। संभवत: उन्होंने तत्कालीन प्रचलित अभिलेखों, सिक्कों, मुद्राओं और मुद्रांकों पर अंकित प्राकृत भाषा व ब्राह्मी लिपि पर गौर नहीं किया और विक्रम, विक्रमस उपाधि धारी मानकर भोजोत्तर कह दिया।

शोध अधिकारी
म.वि.शो.पीठ, उज्जैन

विक्रम कन्या वसुंधरा

मू.ले . स.ल. कात्रे
अनु. अजिता त्रिवेदी

गर्दभिल्ल या गंधर्वसेन, भर्तृहरि आदि नाम संवत्सर प्रवर्तक के रूप में ख्यात सम्राट विक्रमादित्य के पिता, भाई इत्यादि संबंधों से मध्यकालीन ग्रंथों में मिलते हैं। और वे आज भी, विशेषतः मालवा में, उन–उन संदर्भों में आबालवृद्ध जन जन के कंठ में बसे हैं। अनेक पंडितों के मुखोद्धृत एक श्लोक में [1] पूर्वमीमांसा भाष्यकार शबरस्वामी विक्रम के पिता, भर्तृहरि उसका सगा भाई, उसी प्रकार वराहमिहिर, हरिचन्द्र, शंकु, अमरसिंह उसके सौतेले भाई थे ऐसी दंत कथा मिलती है। विक्रम के परिवार में अनेक अन्य व्यक्तियों के नाम भी कुछ एक ग्रन्थों में प्रसंगवश उल्लेखित हैं। विभिन्न ग्रंथों में उपलब्ध ये दंतकथाएँ प्रायः परस्पर विरोध, नूतन, कपोलकल्पित, अनुमानजन्य या अनेक गड़बड़झालों से युक्त होने से इतना तो सच है कि अधिकतर ये विश्वसनीय तो नहीं लगतीं। किन्तु इन्हें संशोधन की कसौटी पर पूर्णतः कसे बिना हमारा विक्रम संशोधन अपूर्ण ही रहेगा।

विक्रम – विषयक निर्णय जितना ही महत्वपूर्ण है, उसका परिवार विषयक – निर्णय। उसके परिवार के विषय में जानकारी देने वाली आख्यायिका प्राचीन अप्रकाशित ग्रंथों में, नये सिरे से मिलने के कारण उन्हें प्रकाश में लाना संशोधकों का कर्तव्य है।

एक प्राचीन दुर्लभ ग्रंथ में, वर्णनीय विषय – प्रवाह में विक्रम की एक कन्या का उल्लेख, मुझे हाल ही में मिला है। इस विक्रम कन्या विषयक जानकारी मुझे उपलब्ध अन्य ग्रन्थों में नहीं मिली ; अतः यह जानकारी इस लघुकाय लेख के माध्यम से पाठकों के समक्ष आवश्यक विवरण के साथ प्रस्तुत कर रहा हूँ ।

कन्नौज के अन्तिम भारतीय सम्राट् जयचंद्र गाहड़वाल (ई.स. 1170-1193) के दादा गोविंदचंद्र गाहड़वाल[2] मध्ययुगीन इतिहास के अप्रतिम महत्वपूर्ण राजा हुए। इसने अपने असामान्य पराक्रम से साम्राज्य का अतिशय विस्तार किया था। इसने मुसलमानों की बढ़ती हुई ताकत को नियंत्रित किया। इसने कन्नौज की ही तरह बनारस में भी अपनी एक राजधानी रखी। इसके अनेक ताम्रपट तथा शिलालेख अब तक बनारस तथा आस–पास के अन्य स्थानों पर भी मिले हैं। इनसे सिद्ध होता है कि इस राजा का शासनकाल ई.स. 1114 से 1155 तक रहा। साथ ही ई.स. 1104 से 1114 के दरमियान युवराज पद पर रहते हुए इसने उल्लेखनीय पराक्रम किये। इसके विद्याव्यासंग तथा पंडितों के प्रति उदारता के असंख्य उदाहरण मिलते हैं । गोविन्दचंद्र के वंश परंपरागत [3] प्रधानमंत्री भट्टलक्ष्मीधर ने गोविंदचंद्र की आज्ञा से धर्मशास्त्र पर, राजशासन आदि कार्यों में उपयोगी ''कृत्यकल्पतरु '' [4] नामक चौदह कांड का एक भीमकाय उत्कृष्ट प्रबंध रचा।

इस ग्रंथ के विभिन्न कांडों के उपोद्घातों में गोविंदचंद्र की दिग्विजयशीलता और दानशूरता का श्रेय लक्ष्मीधर अपनी[5] बुद्धिमत्ता तथा तंत्रज्ञता को देता है। उसके इस कथन में ऐतिहासिक तथ्य बहुतायात में होना, संशोधकों ने

सिद्ध कर दिखाया है।[6]

लक्ष्मीधर के ''कृत्यकल्पतरु'' के चौदह कांडों में से बारह कांडों की हस्तलिखित प्रतियाँ पर्याप्त रूप में उपलब्ध हैं।

अन्य दो कांड अब तक नहीं मिले। उनमें से ''पूजाकांड'' ई. सं. 1939 में नागपुर के भौंसले राजा के संग्रह में मद्रास के रावबहादुर के.व्ही. रंगास्वामी को मिला। अवशिष्ट ''व्रतकांड'' की साद्यंत प्राचीन प्रति सर्वप्रथम मुझे ही सागर (मध्यप्रांत) के एक संग्रह में मिली, अब वह उज्जयिनी के सिंधिया ओरिएन्टल इंस्टीट्यूट के हस्तलिखित ग्रन्थसंग्रह में आवक संख्या 6102 पर दर्ज हुई है। इस प्रति का और कांड का संक्षिप्त वर्णन मैंने मुंबई के ''न्यू इंडियन अँटिक्वेरी'' मासिक के[7] जनवरी 1944 के अंक में प्रसिद्ध की है, वह जिज्ञासु वहीं देखें। इस व्रतकांड के उपोद्घात में लक्ष्मीधर ने विक्रम की एक कन्या का सरसरी तौर पर उल्लेख किया है। विवेचनार्थ आवश्यक इस उपोद्घात के प्रारंभिक आठ श्लोक निम्नांकित हैं –

''नाना तन्त्रविचार चारुविलसच्चातुर्य चिन्तामणि –
व्रात्यादि प्रकट प्रदोष शमनान्यङ्गैर्युतान्यादशत्।
षष्ठे सज्जन चित्त वाञ्छित फलान्यस्मिन् व्रतानि स्फुटं
काण्डेवित्तमुदाद्युदारचरितः श्रीमान् स लक्ष्मीधरः॥ 1॥
वार व्रतानि विधिजान्यागमोक्तानि विस्तरात्।
वक्ष्ये बहुफलान्यस्मिन् हृद्यानि निजलीलया॥ 2॥
व्रतमेव परं लोकसाधनं भोगसाधनम्।
व्रतेनैव जयो यस्मात् तस्मात् सर्वो व्रतं चरेत्॥ 3॥

व्रतेन सुजयो राजा सार्वभौमोऽ भवत् कृते।
त्रेतायां धार्मिको रामो द्वापरे सुधनञ्जयः॥
कलौ विक्रमभूपाल स्तस्माद् व्रतफलं महत्॥ 4॥
एको दोषो मनुष्याणां व्रतमेव महात्मना।
प्रोक्तो नानाविधैस्तन्त्रैः शङ्करेण हरिं प्रति॥ 5॥
सन्ति यद्यपि भूयांसो लोके धर्मा युगे युगे।
तथापि व्रतधर्मस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥ 6॥
व्रतेन मुक्तिमापन्ना हरिणाक्षी वसुन्धरा।
विक्रमस्य सुता साध्वी दशार्णविनिवासिनी॥ 7॥
देवता दितिपुत्राश्च सिद्धगन्धर्वकिन्नराः।
ऋषयश्च परां सिद्धिमुपवासैरवाप्नुवन्॥ 8॥ इ.''

श्लोक 1-2 में ग्रंथकार ने प्रस्तुत कांड के विषय का निर्देश किया है, साथ ही उस विषय पर प्रबंध लिखने की स्वयं की

पात्रता तथा अधिकार आत्मवर्णन परक अनेक विशेषणों से ध्वनित किया है। शेष छह श्लोकों में आर्यों के धार्मिक जीवन में व्रतों का स्थान, उनके महत्त्व का, विशद वर्णन दिया गया है। श्लोक 4 में व्रत–साधन से सार्वभौम पद प्राप्त करने वाले चार युगों के चार प्राचीन राजाओं का निर्देश किया है। उसी में कलियुग में इस साधन से यह पद पाने वाले विक्रम राजा का ही उल्लेख किया है, यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है। श्लोक 7 में ''विक्रम ही दशार्ण देश में रहने वाली सुस्वरूप और सच्चरित्र कन्या वसुंधरा ने व्रत–साधन से मोक्ष प्राप्त किया'' ऐसा दर्शाया है।

लक्ष्मीधर के उक्त उल्लेख से हमें महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है कि 1) राजा विक्रम की वसुंधरा नाम की एक कन्या थी। 2) वह दशार्ण देश में रहती थी अर्थात् उसकी ससुराल दशार्ण देश में थी तथा 3) अद्वितीय वैभवशाली सम्राट की कन्या होने पर भी वह कड़े नियम–धर्म का पालन करती थी।

विक्रम नाम अथवा उपाधि धारण करने वाले राजा, लक्ष्मीधर के पूर्वकालीन समय में अनेक हो चुके। साथ ही साक्षात् उसके समय में भी, बिल्हणकृत ''विक्रमाङ्कदेवचरित'' काव्य का नायक और ''मिताक्षराकार'' विज्ञानेश्वर का आश्रयदाता, छठवां चालुक्य विक्रमादित्य (ई.सं. 1076-1126) बलाढ्य ख्यातनाम राजा दक्षिण में रहा। उनमें से[8] समकालीन छठवां चालुक्य विक्रमादित्य गोविन्दचंद्र के प्रतिस्पर्धी राजाओं में से एक होने से, उसका या उसकी कन्या का गौरवपरक उल्लेख लक्ष्मीधर के ग्रंथ में होना शक्य नहीं। श्लोक 4 के निर्देश की सहायता से यह निर्धारित करना हमारे लिए संभव है कि पूर्ववर्ती अनेक ''विक्रम राजाओं'' में से भी किसका निर्देश यहाँ अभिप्रेत हो सकता है। विक्रम राजा कलियुग में सर्वश्रेष्ठ महत्वूर्ण सार्वभौम राजा हुआ ऐसा श्लोक 4 में ग्रंथकार ने लिखा है, श्लोक 7 में भी उसी विक्रम का निर्देश अभिप्रेत होगा, ऐसा मानना युक्तिसंगत लगता है। प्राचीन पारंपरिक मान्यता के अनुसार उज्जयिनी नगरी में अपनी राजधानी रखने वाला और ई.पू. 57 से प्रारंभ होने वाले विक्रम संवत् का संस्थापक मूल विक्रमादित्य ही इतने महत्त्व का सम्राट् है। अब यह सम्राट् वस्तुतः इसी समय हुआ या नहीं ? द्वितीय चन्द्रगुप्त से अथवा अन्य किसी सम्राट् से उसकी अभिन्नता है या नहीं ? यह देखने परखने का यहाँ हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। लक्ष्मीधर के निर्देश में यह प्राचीन परंपरागत मान्यता का विक्रमादित्य ही अभिप्रेत होगा इतना भर हमें यहाँ देखना होगा।

उज्जयिनी के मूल विक्रमादित्य से संबंधित अनेक दंतकथाएँ प्राचीन ग्रंथों में मिलती हैं। किन्तु उसकी वसुंधरा नामक कन्या जानकारी मुझे अन्य किसी ग्रन्थ में अब तक नहीं मिली है। उसकी प्रियङ्गु मञ्जरी नामक एक कन्या होने की जानकारी जैन ग्रंथकार शुभशील के ''विक्रमचरित'' के सर्ग 10, श्लोक 4 में[9], उसी प्रकार अन्य हिन्दू और जैन ग्रंथकारों के[10] ग्रंथों में भी मिलती है। पर, इस कन्या वसुंधरा से उन ग्रंथकारों का परिचय होगा, ऐसा नहीं लगता। द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की कन्या प्रभावती गुप्ता इतिहास में प्रसिद्ध है। किन्तु वह वाकाटक वंश के रूद्रसेन द्वितीय की पत्नी होने से ''दशार्णवासिनी'' होना संभव नहीं। अर्थात् यह विक्रम कन्या वसुंधरा और प्रभावती गुप्ता, इन दोनों का, ऐतिहासिक ऐक्य नहीं होगा।

दशार्ण देश अर्थात् पूर्व मालवा से लगा हुआ भोपाल, भेलसा आदि स्थानगत प्रदेश। इस दशार्णदेश के राजघराने से उज्जयिनी में रहने वाले सम्राट का विवाह संबंध होना अशक्य नहीं है। गोविन्दचंद्र ने दशार्णदेश के अधिपति को युद्ध में

पराजित कर उसका राज्य पादाक्रान्त किया, ऐसा अनेक प्राचीन लेखों [11] से सिद्ध हुआ है। इस विषय – प्रसंग से लक्ष्मीधर का दशार्ण देश से प्रत्यक्ष संबंध हुआ होगा और तब उसे वहाँ के लोगों से इस विक्रम कन्या वसुंधरा की आख्यायिका ज्ञात हुई होगी। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि लक्ष्मीधर द्वारा दी गई यह जानकारी उसकी अपनी कपोल कल्पित न होकर, उसके समय में दशार्ण देश में प्रचलित आख्याायिका या दंतकथा पर पूर्ण आधारित रही होगी।

लक्ष्मीधर बारहवें शतक पूर्वार्ध में होने से, विक्रम विषयक विवरणात्मक जानकारी देने वाले किसी भी हिन्दू अथवा जैन ग्रंथकार की अपेक्षा अर्वाचीन नहीं। वह पात्रता और विश्वसनीयता में तो अन्य किसी भी ग्रंथकार से बढ़कर ही होगा। अर्थात् उसके द्वारा दी गई जानकारी का समर्थन अन्य ग्रंथों से अद्यापि न होने पर भी उसका महत्त्व कम नहीं होगा।

लक्ष्मीधर द्वारा अपने समय में प्रचलित मान्यता के अनुसार दी गई आख्यायिका पाठकों के समक्ष रखना, यही प्रस्तुत लघु लेख का प्रयोजन है। यद्यपि यह आख्यायिका पूर्णतः ऐतिहासिक है ही और विक्रम राजा की वसुंधरा नामक दशार्ण के राजघराने में दी गई कन्या थी ही, ऐसा आग्रह रखना वर्तमान अवस्था में शक्य तो नहीं है। ई.पू. 57 के लगभग, विक्रमादित्य के वर्णन के मुताबिक सम्राट उज्जयिनी में होने का ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक हमारे समक्ष नहीं आया है, ऐसा मुझे भी लगता है। किन्तु ऐसा कोई प्रमाण संशोधकों के प्रयत्नों से आगे चलकर उपलब्ध होना अशक्य है, ऐसा भी तो अभी नहीं लगता। विगत वर्ष ही इंदूर राज्य में मिली, सम्राट समुद्रगुप्त की नवीन स्वर्णमुद्रा पर, ''श्री विक्रम'' पद दिखाई देने से, चंद्रगुप्त द्वितीय ने ही प्रथमतः ''विक्रमादित्य'' विरुद धारण किया ऐसी कल्पना को जबरदस्त धक्का लगा है। कालान्तर में कदाचित् समुद्रगुप्त का भी पूर्ववर्ती एक–आध विक्रमादित्य सिक्के पर या शिलालेख पर मिल सकता है[12]। ऐसा होने पर, इतिहास– लेखकों को, लक्ष्मीधर जैसे अधिकार संपन्न ग्रंथकार द्वारा दी गई आख्यायिका पर विचार–विमर्श, उस विक्रमादित्य के परिवार का निर्णय करने के लिए पूर्णतः करना ही होगा। वर्तमान स्थिति में भी लक्ष्मीधर द्वारा दी गई जानकारी, इतिहास में ज्ञात अन्य किसी प्राचीन विक्रमादित्य के विवरण से मेल खाती है ? या किस प्रकार ? इस पर विचार करना संशोधको के लिए अवश्य योग्य है।

सन्दर्भ –

1 ''ब्राह्मण्यामभवद् वराहमिहिरो ज्योतिर्विदामग्रणी
राजा भर्तृहरिश्च विक्रमनृपः क्षत्रात्मजायामभूत्।
वैश्यायां हरिचन्द्र वैद्यतिलको जातश्च शंकुः कृती
शूद्रायाममरः षडेव शबरस्वामिद्विजस्यात्मजाः॥

* विक्रमकन्या वसुंधरा - स.ल. कात्रे स्रोत : विक्रम स्मृति (मराठी ग्रंथ) : वि.सं. 2003 सिंधिया ओरिएन्टल इंस्टीट्यूट, उज्जयिनी पृ. क्र. 158-164

2 गोविन्दचंद्र विषयक विशेष जानकारी, पाठकों को, आर.एस.त्रिपाठी के History of Kannauj (1937), के.व्ही. रंगास्वामी आयंगार के ''दानकांड'' के संस्करण में जोड़े गये उपोद्घातात्मक विस्तृत निबंध Laksmidhara and the Krtya Kalpataru. (गायकवाड़ ऑरिएन्टल सीरीज, संख्या 92, 1941) Catalogue of Inscriptions in Lucknow Museum (1915) आदि ग्रन्थों में मिलेगी। सिद्धेश्वर शास्त्री चित्रावकृत ''मध्ययुगीन चरित्रकोष'' (1937) में भी पृष्ट 334-335 पर इसका वर्णन संक्षेप में दिया है। ई.स. 1940 के लगभग बनारस में राजघाट के निकट मिले प्राचीन अवशेषों में भी इस गोविंदचंद्र के कुछ–कुछ सिक्के, ताम्रपट इत्यादि मिले हैं।

3 लक्ष्मीधर के पिता भट्ट हृदयधर को भी कन्नौज राज्य का ''महासान्धिविग्रहिक'' या ''मंत्रीश्वर'' पद प्राप्त था।

4 इस ''कृत्यकल्पतरु'' का पहला ही आलोचनात्मक संस्करण रावबहादुर के.व्ही. रंगास्वामी आयंगार तैयार कर रहे हैं। ''गायकवाड़ ओरिएन्टल सीरीज'' में यह क्रमशः प्रकाशित हो रहा है। पाँचवाँ ''दानकांड'' सबसे पहले 1941 में प्रकाश में

आया, ग्यारहवाँ ''राजधर्मकांड'' आदि संप्रति मुद्रणावस्था में हैं।

5 उदाहरणार्थ ''राजधर्मकांड का प्रथम श्लोक ही देखिए –

''न्याय्ये वर्त्मनि यज्ञगद् गुणवतां गेहेषु यद् दन्तिनो
यज्ञां मूर्धनि यत् पदं व्यरचयद् गोविन्दचन्द्रो नृपः।
तत्सर्वं खलु यस्य मन्त्रमहिमाश्चर्यं स लक्ष्मीधरः
कांडे शंसति राजधर्मनिचयानेकादशे पुण्यधीः॥

6 के.व्ही. रंगास्वामी आयंगार – Laksmidhara and the Krtya Kalpataru, पृष्ठ 8-15

7 New Indian Antiquery, Vol. VI, No. 10, Pg. 236-238

8 आयंगार का उक्त निबंध – पृ. 14 से आगे देखिए

9. ''प्रियङ्गु मञ्जरी पुत्री विक्रमार्कमहीभुजा।
वेदगर्भबुधोपान्ते मुक्ताध्ययनहेतवे॥''
(भगवानदास द्वारा प्रकाशित संस्करण, सं. 1996, 5 . 184)। विक्रमादित्य राजा ने अपनी कन्या प्रियंगुमञ्जरी को वेदगर्भ नामक पंडित के पास विद्यार्जन के लिए भेजा, ऐसा श्लोक का भावार्थ है।

10. उदारणार्थ, मेरुतुंगकृत प्रबन्धचिन्तामणि (मुनि जिनविजय का संस्करण, 5. 3) आदि देखिए, ''प्रबन्धचिन्तामणि'' में ''वेदगर्भ'' के स्थान पर ''वररुचि'' का नाम प्रियंगुमंजरी के अध्यापक के रूप में दिया गया है।

11. आयंगर का उक्त निबंध पृ. 14, उसी प्रकार अन्य संदर्भ ग्रंथ देखिए।

12. ईसवी पूर्व की ब्राह्मी लिपि में विक्रम, विक्रमादित्य, उज्जयिनी, कृत आदि नामांकित कई सील, सिक्के और शिलालेख प्राप्त हो गये हैं।

वे महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ से प्रकाशित ''विक्रमादित्य और पुरातत्त्व'' पुस्तक तथा विक्रमार्क नामक शोध पत्रिका के विभिन्न अंकों में प्रकाशित हैं। अन्य भी आगामी अंकों में प्रकाशित होने की संभावना है, विक्रमादित्य नामांकित विभिन्न प्रतिमाएँ, शिलाफलक, शिलालेख आदि भी प्राप्त हुए हैं। संपादक।

घटकर्पर

मू.ले . प. कृ. गोडे
अनु. अजिता त्रिवेदी, उज्जैन

विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों के विषय में लिखते हुए डॉ. कीथ कहते हैं कि ''इन नवरत्न–माला में धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंङ्कु , वेतालभट्ट, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर और वररुचि का समावेश होता है। इनमें से आयुर्वेदीय कोषकार धन्वन्तरि अमरसिंह से प्राचीन हैं। इन्होंने भी कालिदास वाङ्मय का उपयोग किया है। चौथा तथा पाँचवाँ नाम केवल काल्पनिक है। वराहमिहिर निश्चित रूप में छठे शतक में हुआ, ''कोषकार'' क्षपणक और वररुचि का समय अनिश्चित है।''[1]

उक्त विधान में डॉ. कीथ ने घटकर्पर का उल्लेख किया नहीं है। क्योंकि उसके विषय में उन्होंने अन्यत्र लिखा है।[2] प्रस्तुत लेख में विक्रमादित्य सभा से संबद्ध घटकर्पर की प्राचीनता विषयक कुछ–एक जानकारी प्रस्तुत करना मेरा मंतव्य है।

1) श्री टी.एस. नारायण शास्त्री के कहे अनुसार –[3]

''घटकर्पर'' उर्फ धावक का ही परवर्ती नाम भास होने से वह श्रीहर्ष विक्रमादित्य (श्री शास्त्री के मतानुसार ई.पू. छठी शताब्दी का प्रारंभ) के राज्य में रहा'' इस मत के मुताबिक निम्नानुसार समीकरण बनते हैं –

घटकर्पर = धावक = भास (ई. पू. छठा शतक) यह मत डॉ. कृष्णमाचारियर ने त्याज्य माना है, अतः उसका उल्लेख मात्र किया गया है।[4] यदि यह मत स्वीकारा भी जाए तो भी उक्त समीकरण का घटकर्पर संवत्कर्ता विक्रमादित्य (ई.पू. 57) का समकालीन रहा, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

2) डॉ. कृष्णमाचारियर ने अन्यत्र कहा है कि : –[5]

विक्रमादित्य सभा के नवरत्नों में से एक घटकर्पर था। घटकर्पर उनका उपनाम था, जो उनके काव्य के अन्तिम श्लोक में आने के कारण उन्हें दिया गया होगा, ऐसा लगता है। इस श्लोक में कवि ने प्रण किया है कि – जो यमक में मुझे जीतेगा, उसके घर मैं पानी के घड़े ढोऊँगा।[6] उसकी यह आत्मस्तुति ठीक ही है। उनका काव्य यमकमय होते हुए भी निर्बाध और मनोहर भी है। इस कवि को कितने ऊँचे दर्जे का सम्मान दिया गया है, यह तो अभिनवगुप्त, भरतमल्लिक, शंकर, ताराचंद्र, जीवानंद, गोवर्धन, कमलाकर, कुचल कवि, वैद्यनाथ, विंध्येश्वरी प्रसाद और इतर अनेक अज्ञातनाम टीकाकारों की इस काव्य पर लिखी गयी टीकाओं से दिखाई देता है।

3) काश्मीर देशीय शैव तत्त्वमर्मज्ञ और साहित्य विवेचक अभिनवगुप्त की उक्त टीका का नाम''घटकर्पर कुलक विवृत्तिः'' है। उस टीका में उपलब्ध विधान से स्पष्ट होता है कि यह टीका अभिनवगुप्त ने ही लिखी है। विधान यह है –

''तत्परामर्शमनाः कोकनदो मनाक्।
काव्येऽहभिनवगुप्ताख्यो विवृत्तिं समरीरचत्॥''

औफ्रेक्ट[7] ने इस टीका की चार हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख किया है। इनमें से तीन रघुनाथ मंदिर ग्रंथ संग्रह,

जम्मू (काश्मीर) में तथा चौथी [8] पोथी पूना के भाण्डारकर प्राच्य संशोधन मंदिर में सरकारी हस्तलिखित भण्डार में हैं। मेरे स्नेही, डॉ. कांतीचंद्र पाण्डे (लखनऊ विश्वविद्यालय) ने ''अभिनव गुप्त'', A Historical and Philosophical Study[9] नामक एक उत्कृष्ट ग्रंथ लिखा है। इस ग्रंथ में डॉ. पाण्डे ने उक्त टीका का विश्लेषण किया है। उसमें से मेरे विषय से संबंधित कुछ–एक बातें मैं यहाँ बता रहा हूँ–

1) अभिनव गुप्त द्वारा ज्ञात तथा उल्लिखित परंपरा के अनुसार घटकर्पर काव्य का कर्ता कालिदास था। इसका पुख्ता प्रमाण यानी निम्नांकित विधान :–

''अत्र कर्ता महाकवि : कालिदास इत्यनुश्रुतमस्माभिः ॥''

2) अभिनव के कथनानुसार इस काव्य का बीसवाँ श्लोक कालिदास का लिखा हुआ नहीं होने से वह श्लोक वहाँ कभी तो भी शामिल किया गया होगा। वह कथन निम्नानुसार है–

''न चास्य काव्ये तृणमात्रमपि कलङ्कपात्रमुत्प्रेक्षितवन्तो मनोरथेऽपि
स्वप्नेऽपि सहृदयाः, तस्मात् प्राक्तन एव समाप्तिश्लोकः।''

अतः प्रस्तुत काव्य का कर्ता, एक साहित्य–परंपरा के अनुसार [10] विक्रमादित्य सभा के नवरत्नों में से एक घटकर्पर नामक कवि था, ऐसी जो समझ कुछ लोगों की है, उसका कोई पुख्ता आधार नहीं है, यह स्पष्ट हो जाता है।

3) अभिनवगुप्त की टीका से युक्त इक्कीस श्लोकों के अतिरिक्त, काव्य के आरंभ में एक मंगल श्लोक है। यह श्लोक स्वयं अभिनवगुप्त रचित है, ''घटकर्पर'' काव्य का प्रारंभिक श्लोक नहीं है, ऐसा डॉ. पांडे का मत है, और अपने इस मत के षोषक कारण भी उन्होंने दिये हैं।

अब अगर हम श्री टी.एस. नारायण शास्त्री के घटकर्पर विषयक समीकरण का मिलान अभिनव के समीकरण से करें तो नतीजा चमत्कारिक और हास्यास्पद होगा, देखिए–

घटकर्पर = (धावक = भास (ई.पू.छठी शताब्दी) = कालिदास !!

विक्रमादित्य सभा के नवरत्न विषयक पारंपरिक श्लोक का कालक्रम की दृष्टि से कुछ भी महत्त्व नहीं है क्योंकि एक तो, इस श्लोक में उल्लिखित विक्रमादित्य कौन–सा? यह हमें निश्चित रूप में मालूम नहीं और दूसरे, यह श्लोक सोलहवीं शताब्दी के एक ग्रंथ में आया है, यानी पर्याप्त अर्वाचीन है। [11]

4) राजमुकुट (ईसवी 1431) ने अपनी अमरकोष पर टीका में ''पूर्वघटकर्पर'' नामक ग्रंथ से एक उद्धरण दिया है। इसका उल्लेख औफ्रेक्ट ने अपने Catalogus Catalogorum में किया है। [12] मैंने अभी तक उसकी छान–बीन नहीं की है। फिर भी घटकर्पर विषयक यह उल्लेख अभिनवगुप्त से लगभग 400 वर्ष बाद का होने से उसे प्रमाण के रूप में अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। अतः यह घटकर्पर काव्य के प्राचीनत्व तथा कर्ता–वह चाहे जो कोई भी हो, के निर्धारण में प्रमाणभूत साक्ष्य नहीं कहा जा सकता।

5) भाण्डारकर प्राच्य संशोधन मंदिर में उपलब्ध अनेक पाण्डु ग्रंथों में [13] और अन्यत्र उल्लिखित पाण्डु ग्रंथों में यह काव्य कालिदास से संबद्ध मिलता है। अब हम पहले ही यह देख चुके हैं कि अभिनवगुप्त ने यह काव्य कालिदास का बताया है और अभिनवगुप्त का समय लगभग 1000 ईसवी है अर्थात् अभिनवगुप्त के कथन को भी आज से लगभग हजार

वर्ष से अधिक समय हो गया है। इससे यह काव्य तथाकथित कालिदासीय समझना कैसे हुआ होगा, इसकी स्पष्ट कल्पना की जा सकती है।[14]

घटकर्पर तथा घटकर्पर काव्य विषयक ऐसी विसंगत उक्त बातों से यह कहा जा सकता है कि घटकर्पर नामक एक ऐतिहासिक व्यक्ति हुआ, अथवा उसने 1200 वर्षों से भी अधिक प्राचीन यह काव्य लिखा ऐसा मानना उचित नहीं होगा। इतना ही नहीं, 1200 वर्ष अथवा उससे भी प्राचीन इस काव्य का कर्ता कालिदास रहे, यह कहना भी संशयग्रस्त है। इस विषय में आज हमें जो जानकारी उपलब्ध है, उसके आधार पर कालिदास की अपेक्षा पर्याप्त परवर्ती समय में उद्‌भूत पारंपरिक विधान पर यकीन करना भी मुश्किल है। यहाँ विशेष रूप में यह ध्यान में रखना होगा कि ईसवीं 1000 के लगभग अभिनवगुप्त के उपलब्ध परंपरा ने ही घटकर्पर काव्य का कर्तृत्व कालिदास पर थोपा है। नवरत्न विषयक इस दंतकथा के मूल में निहित सत्य के अन्वेषण से वे रत्न समकालीन रहे ऐसा अगर सिद्ध नहीं भी होता, तो भी उनके नाम से ख्यात कई ग्रंथ कितने प्राचीन थे, इतना भर तो स्पष्ट दिखता ही है। और यह प्राचीनत्व क्षपणक, वराहमिहिर, कालिदास, धन्वन्तरि, अमरसिंह, तथाकथित घटकर्पर तथा वररुचि की बाबत में, लगभग 600 ईसवी तक सहज ही स्थापित किया जा सकता है। इससे पूर्व मानना साहस मात्र होगा और ऐसा साहस संस्कृत वाङ्‌मय के इतिहासकारों के सामर्थ्य से परे है।

तात्पर्य यह है कि उक्त रत्नों में से प्रत्येक की न केवल प्राचीनता अपितु उनकी समकालीनता के विषय में भी अधिक ठोस सबूत मिलने तक, हमें बाट जोहना होगी। उल्लिखित श्लोक में उनकी समकालीनता मानी गई है, ठीक है, किन्तु कालक्रम अथवा ऐतिहासिकता की दृष्टि से यह मानना न तो अचूक है और न ही यथार्थ। लेख में मैंने यह बात पहले ही दर्शायी है।

सन्दर्भ सूची

* घटकर्पर
  स्रोत : विक्रमस्मृति (मराठी) : वि.सं. 2003
  सिंधिया ओरिएन्टल इंस्टीट्यूट, उज्जयिनी
  पृ. क्र. 96-101

0 मूल अंग्रेजी लेख का अनुवाद। अनुवादक – प्रो. रा. लद्दू, एम्. ए.

1. Sanskrit Literature, Oxford (1928 की आवृत्ति) का पृ. 76 देखें,

2. वही ग्रंथ, पृ 200-201 – डॉ. कीथ ने यहाँ इस कवि तथा उसके ग्रन्थ विषयक निम्नानुसार जानकारी दी है –
   1) घटकर्पर काव्य के 22 श्लोक हैं। उसकी केन्द्रभूत कल्पना मेघदूत में वर्णित कल्पना से विपरीत है।
   2) इस कवि का नाम शब्दश्लेष के कारण चिरंतन हो गया है।
   3) ''यह काव्य कालिदासपूर्व है।'' यह जेकब का सिद्धांत सत्य नहीं है।
   4) नीतिसार नामक एक इक्कीस श्लोक वाला ग्रंथ इसी के नाम से जोड़ा गया है।

3 ''रत्नावली'' की प्रस्तावना – डॉ. कृष्णमाचारियर ने अपने ग्रंथ Classical Sanskrit Literature के पृ. क्र. 553 पर इसका उल्लेख किया है।

4 वहीं

5. वही ग्रंथ, पृ.क्र. 359

6. वह श्लोक निम्नानुसार है :–
आलम्ब्य वाम्बुतृषितः करकोशपेयं
भावानुरक्तवनिता सुरतैः शपेयम्।
जीयेय येन कविना यमकैः परेण
तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण।।
7. Catalogus Catalogorum भाग 1, पृष्ठ 174 – ''घटकर्पर कुलकविवृत्ति by अभिनवगुप्त Report IX''
8. ह.लि.नं. 125 (साल 1775-76) –कागजी, ''शारदा'' लिपि लिखित
9. चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस सिटी – 1935, पृष्ठ 65–66
10. यह परंपरा निम्नांकित श्लोक में निहित है –
''धन्वन्तरि–क्षपणकामरसिंह शङ्कु–
वेतालभट्ट – घटकर्पर – कालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य।।
11. Imperial Garetteer of India, Vol II (Historical) Oxford, 1928 का पृ. 239, देखिए।
12. देखिए CC, भाग 1, पृ. 344
13. प.कृ. गोडेकृत, B.O.R.I. (पुणे) के Discriptive Catalogue of Kavya MSS (Govt. MSS Library), Vol. XIII, Part I के पृ. 285 से 305 देखिए
14. डॉ. पाण्डे का ''अभिनवगुप्त'', पृष्ठ 7-8 देखिए। अभिनवगुप्त का साहित्यिक कार्यकाल 990 से 1015 ईसवी रहा, ऐसा माना जाता है। अभिनव का जन्म 950 से 960 के दरम्यान हुआ।

Bhartrihari's Concept of Communication in Today's Context

Dr. Dharmendra Mehta
Dr. Naveen K Mehta

'वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥

Abstract

Raja Bhartihari (or Bhartri) is widely known in India, he renounced his throne to become an ascetic. Bhartrihari is considered one of the most original philosophers of language and religion in ancient India. His thoughts may be characterized as part of the *shabdadvaita* (word monistic) school of thought, which states that cognition and language are identical concepts that refer to one supreme reality, *Brahman.* The term Communication has many different meanings. At a narrow sense is limited to the media of information; on the other side, a very wide meaning embraces any means whereby a message passes from one person to another, including face-to-face and even non-verbal communication. Communication plays a key role in our day to day life. Good command over communication represents honestly, transparency, sincerity, spirituality, collaboration and respect. The process of globalization is forcing us to regroup and innovate our communication strategy so that we can face the emerging challenges of the changing world. At such a critical stage, Bhartrihari's Concept of Communication may enable us to scale new heights of success. The present paper is an attempt to study Raja Bhartrihari's Concept of Communication and Changing Scenario in the present globalized world.

Keywords: Communication, Relationship, Understanding, Speech, Life.

Introduction

The term communication originates from the Latin word 'Communicare' which means sharing. Hence, it is an act by which a person shares the knowledge, feelings, ideas, information, etc.; in ways such that each gains a common understanding of the meaning, intent and use of the message. Communication entirely depends upon our understanding what the speaker means by the words he uses, as well as his understanding what the words will mean to us. A better communication network promotes a high level of interpersonal relationship, harmony

and understanding. According to Vedic concept ''Vac'' is the Goddess of communication and speech. Therefore a great emphasis is put on use of pleasant words. Infact Vedas are regarded the product of the direct communication between the gods and the sages. The Rigveda states that ''let noble thoughts come to

us from everywhere.'' Arthveda also clearly indicates the importance of healthy communication as ''Vacha Vadami Madhumad'' (1/34/3). Vedic Puja or Dhyan is also a sort of communication; communication with God, as a communication more real that the communication of language which is experienced everyday.

Concept of Communication in Neetishatak

Bhartrihari says very aptly that keep your speech and thought control. He further propounds that do not condemn anyone at all, because it you condemn a person, others also have doubt that you may condemn them afterwards. One should keep himself/herself from harsh or rude words and language, harsh words or rude language may spoil the relationship and bring bad name to any individual. The Neeti Shatak reflects that one should always communicate with soft and polite words. *"Such persons, who never tell bitter word and always use sweet ones, who are satisfied, who never defame others are rare on this earth" [Neetishatak/106) (No. 99)]*

The holy Bible also advocates that let no corrupting talk come out of your mouths, but only such as is good for building up, as fits the occasion, that it may give grace to those who hear. (Ephesians-4:29)

It is merely an elaborated form of the English proverb, "Speech is silver, silence is gold," It means better to remain silent rather using meaningless words or harsh words.

He elaborates that intercourse with wise men takes away dullness of mind, elevates the intellect, inspires the speech with truthfulness. **Sinchate vdche satyam,** "pours truth into the speech," or "impregnates the speech with truthfulness." is the kernel of Bhartrihari's philosophy.

Truthfulness is, therefore, of prime importance to a harmonious and peaceful society and of fundamental importance to the harmonious and peaceful individuals who constitute that society. In Buddhism, truthfulness has been given utmost importance. True language distinguishes humanity from the animals, and speech is accorded considerable spiritual significance in Buddhism.

Bhartrihari considers gentleness of speech as very precious ornament of a hero like person. He says that a wise man should undertake any action with proper planning and lots of brain storming. Think twice before speak appears to be very pragmatic in today's context as there is lot of turmoil resulted due to mindless speeches. Thinking, feeling, speaking and doing are the process that we all can use to fulfill our divine purpose in life. Many of us are frustrated, confused, lack enthusiasm and are going through the motions in life because we are not doing what we have been created to do, so to avoid all these barriers, we need to rely upon and pay heed to the Sutras of communication as uttered by great sage like Bhartrihari. He highlights that eloquence is most required element in the assembly so at such moment one should keep himself/herself silent rather one should rise to the occasion and spell the magic through appropriate

selection of words.
Bhartrihari says that the act of speech comprises three stages :

Conceptualization by the speaker (Pasyanti - 'idea')

Actual act of speaking (Madhyama - 'medium')

Comprehension by the interpreter (Vaikhari - full utterance).

There is, of course, the highest stage called Para, which is identified with Brahman. For him, word is eternal. It is permanent, immutable and everlasting. Word, its meaing and their relationship are eternal. For Bhartrihari, the world is a real projection of Brahman. Verbal communication is manifestation of the supreme principle whose essence is Sabda. Bhartrihari's Sphota can be seen as a communication device based on recognition of truth of existence through a word/text in the hearer or speaker.

Conclusion

Bhartrihari thinks that knowledge and communication are integral to each other. No communication can achieve its set objectives without having knowledge. Knowledge is the most magnificent retrieve of human beings, it is a secret treasury and is the bestow of comforts, success and happiness, knowledge is the Guru of all gurus, it is the principal teacher. It is alike a brother and family member in the foreign land. It is the noblest form of God. Amongst the kings it is knowledge which is venerated and worshipped and not wealth and riches. He proclaims that a person devoid of knowledge is like an animal. He firmly believes that company of good people can reduce and mitigate the ignorance of the mind, can encourage truthful speech and moreover enhances ones social status and prestige. A saying from the Veda claims that "Speech is the essence of Humanity" Even by speaking and singing of Vedic hymns can also bring the greatest joy and purpose in our lives. Hence, Bhartrihari exhorts us that listening to the Vedas is the true ornament for the ears and not the earnings adorn the ear. Thus, it is noted that the immortal works of Bhartrihari have gems of communication by learning and understanding them, we can make our communication effective and successful one.

References

McDonald Arthur Anthony, A Vedic Reader, 1965, John Brown, Oxford University Press, Madras.

S Ramarathnam, Management Sutra, 2010 DK Printworld (P) Ltd, New Delhi.

Pt Keshavdev Shastri, Bhartrihari Virchitam-Shrangar, Variyagya, Neeta Shataktriyam, 1963 Pustak Mandir, Mathura

M.R. Kale, The Niti and Vairagya Shatakas of Bhartrihari (Motilal Banarsidass Publishers, 1971, (rpt., 2004) Shri Sunder Hattangadi, Neeti Shatak, You Tube, Michigan, USA Assessed on 10 December, 2013

Acknowledgement

We express our sincere gratitude to our most reverend parents Dr Narendra Kumar Mehta and Mrs. Sharda Mehta (Retd. Teachers) for their worthy suggestions and contribution in understanding and sharing the sublime thougths ingrained in Bhartrihari's works.

Reader, FMS PtJNIBM,
Vikrama University, Ujjain (M.P.)
Associate Professor
Mahakal Institute of Technology, Ujjain (M.P.)
Mob.: 8989696908

CREATION OF BHIMKUND

An Example of Extreme Hydraulic Engineering of Paramara Period

Pooja Saxena

The Shiva temple of Bhojpur ($23^0$6'N.; $77^0$16'E.) is at Raisen district stands today in its incomplete state.[i] The temple was constructed in the east bank of *Bhimkund,* once a very vast lake of Paramara period but nothing remains except the ruins of the magnificent old dams by which its water were held up.

The ambitious hydraulic project is attributed to Raja Bhojdev (1010-1050 AD), the Paramara ruler who ruled from the present day Dhar. According to local tales Bhoja created this lake by holding water from 365 streams, in compliance of the advice of sage. Daily bath in its water quickly healed him from an incurable disease, from which he was suffering from a long time.[ii]

Historian William Kincaid, published a research paper in the year 1888,[iii] first time he described shape and size of the lake on survey map of Railway.

Selection of Site

It is said that a great survey has done in the Malwa for selection of such a site which can be converted into a vast water sheet. After an exploration of the region and study of feasibility, on the basis of geological features an area selected from the Betwa River to Kolans River with their tributaries which flow from Sehore, Bhopal and Raisen to construct a lake. The site was chosen with great skill as natural wall of hills enclosed the whole area except for three major openings and one minor. The planning was that the openings should be closed by gigantic earthen embankments and the whole area act as a bowl, a gigantic bowl. So that one can not only collect water from the rivers but also harvest rain water. The project would be the most economical too.

How it was created

The planning begins from the Kolans River with its tributary Kuljhawan which flows from Sehore to Bhopal. When it flows from the narrowest passage of two hills (present location Kamala Park, Bhopal), a gigantic embankment was constructed on the course of river.[iv] So that collected water may increase its the level and acquiesce area in the west side of the embankment. It took a shape at a certain level, the lake known these days as Bara Talab of Bhopal. A 125 meter long spillway was made in the width of the embankment which today also releases overflow of Bara Talab, towards *Chota Talab* in the east. [v] The embankment is the eternal identity of Bhopal as this is the *pal* from where Bhopal gets its name.[vi]

Bara Talab was acted as a feeder body to the Bhimkund. When level and acquiesced area were

increased, surplus water of Bara Talab flowed in the river called Kaliasaut. It is a folklore that it was *Kalia Gond* who pointed out the hidden Kaliasaut river with its tributaries to the baffled engineers of Bhoja, to make up the number
365 streams, to be turned into Bhoja's lake.

Two tributaries Guni and Kerwa joins Kaliasaut and merge their water into it.[vii] There is a place called Mendua village 5 km before Bhojpur, where Kaliasaut flows in between two hills and originally merged into the Betwa River after 4 km from here in the east direction after Bhojpur. To submerging the course of Kalisaut into the Bhimkund, an embankment of 1.20 Km of length was constructed with the same technique in between the hills. [viii] This resulted Kalisaut to turn into right angle towards south, covering 4.50 km and merged into Betwa River before 1 Km of Bhojpur. There was an arrangement of spillway in the embankment to regulate the efflux of water of Bhimkund from the old course of Kalisaut.

These are earthen embankment of unusual size. It is filled with local compact earth with rubbles. The stone pitching with dry masonry on side slops has been constructed so as to protect bund from soil erosion. The compacted soil does not permit water penetration inside whereas laid stone blocks make it almost water tight.[ix] The stone blocks split form the parent rock with the help of wooden wedge, which were inserted, into the voids and then they were continually treated with water and thus, resulting in the suckling of the wood, which splitting along the layer of the sand stone and thereby large stone blocks were quarried. Immense stone blocks laid one on the other without mortar. These slanting wide structures were able to take water pressure of the lake. The shape is also most important feature of long life structures.

When Betwa reached just one km towards North of Bhojpur temple, a dam with same technique but more strong with four stepped wall was constructed on the course of river. [x] Although it must had a spillway or output to maintain level of tank and to feed other towns as Raisen, Vidisha etc. located on the bank of Betwa.

Now all threr openings were closed by gigantic and strong dams. The enclosed hillock area became a vast water sheet of 250 sq miles. [xi] Only a hill locally known as Mandidvipa was an Island as meaning hidden in the name. [xii]

Although the process would took a long time to fill the tank, catchment area was Sehore, South-Eastern part of Bhopal and surrounding hillock of the water body. After completion of Bhimkund, construction of Shiva temple would have been begun on the confluence of 365 or uncountable streams. The Shiva temple faced west towards Bhimkund. Shiva temple of Bhojpur was remained incomplete. But Bhimkund was existed for several 400 years.

It is said that climate of Malwa has changed after destruction of the embankment.[xiii] It is most

probable that during the existence of the Bhimkund, the local climate was much affected, particularly to the East as far as Vidisha. The hot winds blowing over this town must have been tempered by the mass of water to windward. The fact should explain that Bhilda town is built below the present flood level and is subject to disastrous inundations. It was possibly built when the lake existed.[xiv] After construction of embankment, in the summers, it would get water from the Bhimkund by control of efflux from the output.

Many religious places of that time such as temple groups of Aashapuri, Bhootnath, Billota, Satmania,
Bhojpur etc. were existed in the east bank of Bhimkund. A belt of rock shelters also existed in the South and West direction of the water body. Many sites such as Sabha Mandal[xv], Samasgarh and other also existed in the surrounding of Bara Talab. It had been created for the people who lived near the area or for agriculture or for navigation or for multipurpose.

Destruction of lake

In Fifteen Century, it is mentioned in Maasir Mahmood Shahi, the lake was destroyed by Sultan Hoshang Shah (1405-34 AD) of Malwa, who destroyed the dam of Betwa, and thus either intentionally or in a fit of destructive passion. [xvi] The Gonds have a tradition to narrate the whole incident and they say that the king's army took three months to destroy the dam, and the lake took three years to get emptied, while its bed was not habitable for 30 years afterwards., [xvii]

Although it was an intensive destruction, an enormous area of the highest fertile land due to heavy siltation of water body were formed [xviii] and a living water body known as Bara Talab life line of Bhopal was remained.

After 1000 years of formation of Bhimkund, vast water sheet has converted into agricultural and habitation area nothing remains except the ruins of the magnificent old embankments by which its waters were held up. Embankment of Betwa was broken in the 15th century, its remains exist and comes under regulated area of Shiva temple a centrally protected monument. Only a corner of embankment of Kolans River is protected because it acts as a foundation of Gond Mahal which is centrally protected. Apart from that the face of embankment towards Bara Talab camouflaged by RCC during Wetland project in the year 2001. Heavy traffic is also a big problem for the earthen bund. A minor embankment of the series existed in Bangarasia is now defaced. Embankment of Kaliasaut River is existed in its original condition. But it is in hazardous position due to heavy encroachment and unplanned development. It is the right time to protect all embankments and also regulate development of the area. The unique extreme hydraulic engineering of Bhimkund is the creation which reflects the great personality of Maharaja Vikramaditya Bhojadev Paramara.

i Bhopal state gazetteer, pg, 1984

ii Dhar Gazetteer, pg 30,19

iii Article republished in the Indian Antiquary - A journal of oriental Research 111883-1933, edited by John

Faithfull fleet, Swati publication, Delhi 1984

iv Bhopal state gazetteer, pg 1984

v Project Report of Wetland, unpublished.

vi Bhopal state gazetteer, pg, 1984

vii Bhopal state gazetteer

viii

ix Drawing documentation done by author.

x Field work

xi Kincaid. W, The Indian Antiquary, pg 350, Swati Publication, 1888

xii Kincaid.W, The Indian Antiquary, pg 350, Swati Publication, 1888

xiii Kincaid.W, The Indian Antiquary, pg 352, Swati Publication, 1888

xiv Kincaid.W, The Indian Antiquary, pg 352, Swati Publication, 1888

xv Bhopal State Gazetteer, pg 95, 1905

xvi Pandey B.M., Shiva Mandir Bhojpur, pg. 4, *Puratatva Prasanga*, Swati Publication, 1992

xvii Bhopal State Gazetteer, pg. 94, 1985

xviii Bhopal State Gazetteer, pg. 86, 1985

भर्तृहरिनाथ की ऐतिहासिकता

डॉ. श्यामसुन्दर निगम

यह एक आम धारणा है कि भर्तृहरि ही शतक–त्रय एवं वाक्यपदीय के रचयिता थे। यह भी वाङ्मयीन प्रमाण है कि वे गुरु गोरखनाथ के शिष्य रहे हैं और साथ ही नाथ सम्प्रदाय के यशस्वी प्रचारक। वस्तुतः अब एकाधिक भर्तृहरियों के अस्तित्व के बारे में विद्वज्जन समान भाव से सोचने लगे हैं। वाक्यपदीय एवं भागवृत्ति के कारण उनका नाम अधिक प्रकाश में आया। इत्सिंग के विवरण, श्रीधरसेन के आश्रित रूप में यशस्तिलक चम्पू में उल्लेख एवं भट्टि की समकालीनता के आधार पर भर्तृहरि की मृत्यु तिथि 651 ई. निर्धारित की गई है। एक परम्परा के अनुसार ये पूर्व–मीमांसा के भाष्यकार शबरस्वामी के पुत्र थे। एक वैयाकरण के रूप में इन्हें अपार ख्याति मिली थी। एक बौद्ध विद्वान् के रूप में इन्होंने नालन्दा में अपने अन्तिम दिवस देखे।

अनेक ग्रन्थों व मेरुतुंग की कृति **'प्रबंधचिन्तामणि'** का विवरण एवं आनुश्रुतिक प्रमाणों के अनुसार लिखा है कि भर्तृहरि विक्रमादित्य के भाई थे। यह भी कहा जाता है कि गंधर्वसेन ने ईस्वी पूर्व 72 में मालवा का लोकसत्तात्मक राज्य उज्जैन में स्थापित करके भर्तृहरि को गणाधिपति बना दिया था। उसने 12 वर्ष राज्य करके अपने अनुज विक्रमादित्य को राज्य देकर भर्तृहरि ने वैराग्य धारण कर लिया था। संभवतः गंधर्वसेन की दो पत्नियाँ थीं। धीमती से भर्तृहरि और श्रीमती से विक्रम उत्पन्न हुए। भर्तृहरि ने शृंगारशतक, वैराग्यशतक और नीतिशतक की रचना की। ये शतक संस्कृत छन्दों में मधुर रचना है। ज्ञात होता है कि भर्तृहरि एक बहुत भारी कवि और अनुभवी विद्वान थे। विद्वानों का मत है कि इनका रचना काल विवादास्पद है जो प्रथम सदी से छठी सदी ई. के मध्य माना जाता है।

चीनी यात्री ईत्सिंग ने अपनी भारत यात्रा में 'भर्तृहरिशास्त्र' का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह शास्त्र महाभाष्य की टीका है। इसमें 25000 श्लोक हैं और उसमें मानव–जीवन तथा व्याकरण शास्त्र के नियमों का पूर्ण रूप से वर्णन है। इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम 'त्रिपदी' है। इसमें पतंजलि के 'महाभाष्य' के प्रथम तीन पदों की ही विस्तृत व्याख्या है। इसके कुछ भाग का एक प्राचीन ग्रन्थ बर्लिन के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

ईत्सिंग ने भर्तृहरि के विषय में लिखा है कि यह विद्वान भारत के पांचों खण्डों में सर्वत्र बहुत प्रसिद्ध था। ईत्सिंग ने लिखा है कि उसकी मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए हैं। इस दृष्टि से नालन्दा के व्याकरणाचार्य भर्तृहरि की मृत्यु सन् 651-652 ई. में हुई होगी।

प्रश्न यह होता है कि कवि भर्तृहरि और वैयाकरण भर्तृहरि एक ही थे या अलग अलग ? बंगाल रॉयल एशियाटिक सोसायटी जर्नल की अठारहवीं जिल्द में पाठक ने और अक्टूबर 1936 में अन्नामलाई विश्वविद्यालय के जर्नल में श्रीयुत रामस्वामी शास्त्री ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'त्रिपदी' का लेखक भर्तृहरि बौद्ध था। इसके विरुद्ध, शतकों के अध्ययन से भर्तृहरि कवि, वेदान्ती व शैव प्रतीत होते हैं। यह भी ज्ञात होता है कि भर्तृहरि को राजदरबार का अच्छा अनुभव था; या तो वे स्वयं राजा रह चुके थे अथवा वे राजवंशी थे। **'वैराग्यशतक'** के समय वे संन्यास ले चुके थे।

'संस्कृत साहित्य के इतिहास' में डॉ. कीथ ने यह शंका भी प्रकट की है कि भर्तृहरि बौद्ध हो गये हों और बाद में फिर शैव धर्म में आ गये हों ; परन्तु यह समझ में नहीं आता कि भर्तृहरि के शतक इतने प्रसिद्ध होते हुए भी ईत्सिंग ने उनका जिक्र क्यों नहीं किया ? डॉ. कीथ का उत्तर यह है कि या तो ईत्सिंग को शतकों का पता नहीं चला या बौद्ध धर्म से संबंधित न होने के कारण उसने इसका उल्लेख करना ही व्यर्थ समझा।

ईत्सिंग ने भृर्तहरि की तीसरी रचना **'पेइ–न'** बतलाई है। इसमें तीन हजार श्लोक हैं और 14,000 श्लोकों में टीका भाग है। श्लोक भाग भर्तृहरि की रचना है और टीकाभाग धर्मपाल का बताया है। ईत्सिंग ने लिखा है कि यह पुस्तक आकाश और पृथ्वी के गंभीर रहस्यों की थाह लेती है और मानवीय नियमों के तात्विक सौन्दर्य का वर्णन करती है। जो मनुष्य यह पढ़ लेता है, उसे व्याकरण शास्त्र का पूर्ण पंडित कहा जाता है।

ईत्सिंग ने अन्तिम समय के बौद्ध धर्म के पंडितों धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शीलभद्र, सिंहचन्द्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त, गुणप्रभ और जिनप्रभ का नाम आदर और श्रद्धा के साथ लिया है।

युइनचांग की भारत यात्रा में भी नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रमुख अध्यापकों में धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र और शीलभद्र के नाम आते हैं। युइनचांग के समय में शीलभद्र जीवित थे। वे धर्मपाल के शिष्य थे। संभवतः धर्मपाल का 600 ई. के पूर्व देहान्त हो चुका था। युइनचांग के वर्णन से पता चलता है कि धर्मपाल का परिपक्व वृद्धावस्था में शरीरान्त हुआ था।

ईत्सिंग के अनुसार, भर्तृहरि के **'पे–इन'** के श्लोकों की टीका धर्मपाल ने की थी। इससे भर्तृहरि का धर्मपाल के बहुत पूर्ववर्ती होना सिद्ध होता है। यदि धर्मपाल भर्तृहरि के समकालीन होते तो यह संभव न था कि युइनचांग उल्लेख न करता।

योगी भर्तृहरि के सम्बंध में निम्न तथ्य प्रकाश में आये हैं –

1. ये विक्रमादित्य के अग्रज थे।
2. इनके गुरु गोरखनाथ थे।
3. ये नाथ–पंथ की विराग शाखा के प्रवर्तक थे।
4. इनकी भी शिष्य–परम्परा रही।
5. नाथ–पंथ के तत्त्वज्ञान–निर्धारण में इनका भी योगदान रहा।

यहां इन बिन्दुओं पर विचार समीचीन है।

नाथ भर्तृहरि के नाथ–पंथ में दीक्षित होने के पूर्व के जीवन के बारे में अनेक इतिवृत्त हैं। बहु–प्रचलित अनुश्रुतियों के अनुसार भर्तृहरि विक्रमादित्य के अग्रज थे। विक्रमादित्य के पूर्व उन्होंने अवन्ती पर शासन किया था। उनके पिता का नाम चन्द्रसेन या गंधर्वसेन एवं पितामह का नाम इन्द्रसेन था। भर्तृहरि के अधीन एक सौ आठ नृपति थे। भृर्तहरि अपनी रानी पिंगला के प्रति पूरी तरह आसक्त थे ; किन्तु एक घटना ने उन्हें उसके सांसारिक रूप से वितृष्णा हो गयी और उन्होंने परिवार एवं राजपद छोड़ कर योगमार्ग ग्रहण कर लिया।

प्रश्न यह उठता है कि क्या ई.पू. प्रथम शती में विक्रमादित्य के अग्रज के रूप में भर्तृहरि ने उज्जैन पर राज्य किया। इतिहास ऐसा कोई संदर्भ हमारे लिए नहीं जुटाता। इस समय के इतिहास पर थोड़ी–बहुत विश्वसनीय सामग्री देने वाला

कालकाचार्य कथानक भी भर्तृहरि के अस्तित्व पर कोई प्रकाश नहीं डालता। इस अनुश्रुति को खारिज करने के पूर्व कुछ संभावनाओं पर विचार कर लेना उचित होगा।

अनेक दिग्गज विद्वान् यह मानते आये हैं कि गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय ही विक्रमादित्य था और उसने चौथी शती ई. में उज्जैन पर राज्य किया।

किन्तु अब यह मत मान्य नहीं है। उज्जैन पर किसी भी दशा में गुप्त आधिपत्य प्रमाणित नहीं होता। उसे गुप्तों की द्वितीय राजधानी मानना अब कतई प्रमाणित नहीं माना जाता। यदि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का एक बार उज्जैन पर अधिकार मान भी लिया जाए तो भी भर्तृहरि का उस समय अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता, क्योंकि इस क्षेत्र में उसके पूर्व शकों एवं आभीरों की सत्ता विद्यमान रही थी। गुप्त वंशावली में भी भर्तृहरि का कोई उल्लेख नहीं है।

जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, शतक–त्रय आदि के रचयिता भर्तृहरि का समय 7वीं सदी माना गया है। इस नाते उसे कुन्तल नरेश विक्रमादित्य से जोड़ा गया है, किन्तु यह मानना भी उचित प्रतीत नहीं होता। अनुश्रुतियाँ उसे अवन्ती का राजा मानती हैं, कुन्तल का नहीं। फिर भी एक राजा जो योग लेकर संसार त्याग चुका होता है, क्योंकि श्रीधरसेन का आश्रित होगा अथवा वैयाकरण के रूप में नालन्दा में बौद्ध–शिक्षा केन्द्र में अपनी आजीविका के लिए कार्य करेगा ?

अनेक विद्वानों की धारणा है कि उज्जैन में ग्यारहवीं सदी में इन्द्रसेन एवं चन्द्रसेन नामक राजा हुए। कुछ का मत है कि उस समय वहाँ विक्रमादित्य नामक राजा भी हुए, किन्तु ये निष्कर्ष पूरी तरह निराधार है। ग्यारहवीं सदी में उज्जैन व धार में सिंधुराज, भोज, जयसिंह प्रथम, उदयादित्य, लक्ष्मदेव, नरवर्मन आदि परमार राजा हुए। परमार राजाओं की सूची में इन्द्रसेन, चन्द्रसेन एवं भर्तृहरि का कहीं भी उल्लेख नहीं है।

पद्मगुप्त ने **'नवसाहसांक चरित'** लिखकर सिन्धुराज को नवसाहसांक माना है। साहसांक विक्रमादित्य का एक विरुद था। इस आधार पर यदि सिन्धुराज का विरुद भी विक्रमादित्य मान लिया जाये तो भी भर्तृहरि की जटिल पहेली नहीं सुलझती। अनुश्रुति उसे विक्रमादित्य का अग्रज मानती है, जबकि परमार अभिलेख एवं साहित्यिक सन्दर्भ वाक्पति मुंज को सिन्धुराज का अग्रज एवं पूर्ववर्ती नरेश मानते हैं।

अतः अनुश्रुतियों के आधार पर किसी भी भर्तृहरि का किसी भी विक्रमादित्य से सम्बंध जोड़ना भ्रामक होगा।

सम्प्रति विभिन्न अनुश्रुतियों तथा शुभचन्द्र रचित ज्ञानार्णव के उस संदर्भ पर गंभीर विचार आवश्यक है, जिसमें शुभचन्द्र एवं भर्तृहरि को नागरानी मृगावती से सिन्धुल का पुत्र माना है। यह ग्रन्थ 8वीं सदी का माना गया है। किन्तु उक्त संदर्भ के प्रकाश में उसे ग्यारहवीं सदी का मानना होगा। **नवसाहसांकचरित** के अनुसार परमार नरेश सिन्धुराज का विवाह नाग शंखपाल की कन्या शशिप्रभा से हुआ था। शशिप्रभा का अन्य नाम मृगावती भी रहा हो।

प्रश्न यह उठता है कि यदि भर्तृहरि सिन्धुल का पुत्र था तो परमार अभिलेखों में जो वंशावलियाँ दी गई हैं, उनमें भर्तृहरि का उल्लेख क्यों नहीं है ? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जो विवाह राज–मान्यता प्राप्त नहीं होते थे, उन रानियों की सन्तति को राजकीय वंश–सूची में सम्मिलित नहीं किया जाता था। उदयादित्य का महान् पुत्र जगदेव इसी पद्धति का शिकार हुआ था। मौर्य व गुप्त राजाओं के अभिलेखों में भी ऐसे कई नाम उत्कीर्ण नहीं हो पाये हैं, जो अन्य स्रोतों से हमें ज्ञात हो जाते हैं। सम्भव है, भर्तृहरि का परमार वंशावली में इसी कारण उल्लेख नहीं हो पाया।

भर्तृहरि इस प्रकार उज्जैन के एक परमार राजकुमार सिद्ध होते हैं। राजघराने के सदस्यों को उच्च पदों पर नियुक्त

किया जाता था। सम्भव है, 11वीं सदी में भर्तृहरि को मेवाड़ क्षेत्र का उप–राजा या प्रशासक बनाया गया हो। मेवाड़ वाक्पति द्वितीय के समय से मालवा के अधीन हो गया था। उसके उत्तराधिकारी सिन्धुराज ने भी इस क्षेत्र का पुनः सफल सैन्य–पर्यटन किया था।

यह वह समय था जबकि उच्च वर्ण के क्षत्रिय व ब्राह्मण सिद्ध निम्न जातियों की तांत्रिक, गुह्य एवं कुत्सित बौद्ध–साधनाओं से विद्रोह कर कुण्डलिनी–जागरण की शैव–परम्परा को नाथ सम्प्रदाय के माध्यम से ग्रहण कर रहे थे। यही कारण है कि मीन, मत्स्येन्द्र, जलंधर, कण्हपा, गोरखनाथ, नागार्जुन आदि सिद्धों की सूची से निकल कर नाथों की सूची में सम्मिलित हो गये। इनकी दार्शनिक पद्धति यद्यपि सिद्धों जैसी ही रही, किन्तु उनका स्वर एवं व्यवहार दत्त एवं शिव की ब्राह्मण परम्परा से प्रभावित हो कर अधिक नैतिक, शिष्ट एवं लोकजीवन को विरागमय बनाने में सफल हो गया। प्राणायाम, कुण्डलिनी–जागरण, षट्चक्र–भेदन की निर्गुणी साधना से युक्त उलटवासियों के मध्य उनके गीतों में आस्तिक भक्ति–भावना का पुट झाँकने लगा। मध्य एवं पश्चिमी भारत में गोरक्षनाथ ने इस धार्मिक एवं आध्यात्मिक रूपान्तर को क्रान्तिकारी गति प्रदान की।

मेवाड़ से आर्यदेव नामक राजा को नागार्जुन ने अपना शिष्य बनाकर बौद्ध सिद्ध में परिवर्तित कर दिया था। आर्यदेव का नाम काणेरी हुआ। स्व. हरप्रसाद शास्त्री ने उसकी रचित एक गीतिका इस प्रकार उद्धृत की है –

जहिं मण इन्दिअ पवन होइ णठा।
ण जानमि अपा कहिं गइ पइठा।।1।।

अकट करुण डमरुनि बाजअ।
आजदेव निरासे राजअ।।2।।

चान्दरे चान्दकान्ति जिम पडिभासअ।
चिअ विकरणे तहि टलि पइसअ।।3।।

छाड़िअ भय घिण लोआचार।
चाहन्ते चाहन्ते सुण विआर।।4।।

आजदेवें सअल विआरिठ।
भय घिण दूर णिवारिउ।।5।।

नागार्जुन जब सिद्ध मत छोड़ नाथ–पंथ में आये तो आर्यपाद भी संभवतः नाथ बन गये और उनका नया नामकरण विरागीनाथ हुआ।

उज्जैन के परमार शासकों ने राजकुमार भर्तृहरि को मेवाड़ का इस प्रकार रिक्त हुआ राजपद प्रशासनार्थ सौंप दिया, किंतु भर्तृहरि को गुरु गोरखनाथ ने नाथ–पंथ में दीक्षित कर लिया। लामा तारानाथ के अनुसार आत्महत्या को उतारू एक

मेवाड़ नरेश को योगी बनाकर उसका नाम वैराग्यनाथ रख दिया।

गोरखनाथ ने पूर्व प्रचलित 18 शैव पंथों एवं स्वयं द्वारा प्रवर्तित 12 पंथों को तोड़ कर नवीन बारह पंथों की संरचना की। फिर भी पूर्व–प्रचलित अनेक नाथ–पंथों ने अपना अस्तित्व किसी न किसी रूप में बनाये रखा। लगता है, गोरखनाथ ने भर्तृहरि को वैरागीनाथ की गादी देकर उन्हे विरागीनाथ भर्तृहरि बना दिया। मेवाड़ से बिल्कुल निकट अजमेर के पास रतढोडा में भर्तृहरि के वैराग्य पंथ का मुख्यालय अभी भी विद्यमान है। इसी परम्परा में रतननाथ हुए जिन्होंने अफगानिस्तान तक इस पंथ का प्रचार–प्रसार किया।

नाथ भर्तृहरि द्वारा लिखित साहित्य अनुपलब्ध हैं। फिर भी गुरु नानक द्वारा रचित '**प्राण संगली**' में उनका एक पद उद्धृत है –

सौ बैराग जौ उलटै ब्रह्म।
गगन मंडल महि रौपे थंम॥

अहि निसि अंतर रहै ध्यान।
ते वैरागी सत्त समान।

बोले भरथरि सत्त सरूप।
परम तत्त महि रेख न रूप॥

विद्वानों ने यद्यपि इस पद की प्रमाणिकता पर अंगुली उठायी है, किन्तु इस पद द्वारा भरथरी का दार्शनिक भाव–भूमि का आभास अवश्य मिल जाता है।

भर्तृहरि गुरुगोरख के अत्यधिक निकट रहे। एक प्रकार से वे गोरखनाथ के उत्तराधिकारी ही थे। हठयोग–प्रदीपिका के चौथे श्लोक के टीकाकार स्वात्माराम ने लिखा है –

हीति प्रसिद्ध मत्स्येन्द्रश्च गोरक्षश्च तौ आद्यौ येषां ते मत्स्येन्द्र गोरक्षाद्याः।
आद्य शब्देन जालन्धरनाथ भर्तृहरिगोपीचन्दप्रभृतो ग्राह्यः॥

गोरखनाथ के अन्तिम शब्द इस प्रकार ब्रिग्स ने बताये हैं –

'गुरुभाई गोपीचन्दनाथ, शिष्य भर्तृनाथ, देखना हम जाते हैं।'

इससे गोरखनाथ एवं भर्तृनाथ के मधुर किन्तु उदात्त आध्यात्मिक सम्बंधों का बोध हो जाता है।

उक्त संदर्भित महायोगी गोपीचन्द की माता भर्तृहरि की योगिनी बहिन थी। महाराष्ट्र की मुक्तादेवी योगिनी उनकी शिष्या थी। मानभाव सम्प्रदाय के प्रवर्तक चक्रधर से उनका सानिध्य रहा। वे नारायण के 'हरि' स्वरूप के अवतार भी माने गये। गोरखनाथ ने ही भरथरी के कान फाड़ कर नाथों में कनफटा पद्धति का प्रचलन किया। माईनाथ, प्रेमनाथ एवं रतननाथ ने उनका अनुयायी होकर उनके मत का भरपूर प्रचार किया। उज्जैन स्थित 11वीं सदी में निर्मित गुहा–रूपी मन्दिर को उन्होंने अपनी साधना–स्थली बनाया और अलवर के निकट एक सघन वन में समाधिस्थ हुए जहाँ आज भी

अखण्ड दीपक जलता रहता है, उनकी अक्षुण्ण कीर्ति की ही भाँति।

अवन्तिका के इतिहास में भर्तृहरि का नाम सदा अमर रहेगा। अपने गुरु गोरखनाथ की ही भाँति उन्होंने सम्पूर्ण उत्तर–पश्चिमी भारत को नाथ सम्प्रदाय के माध्यम से अद्वितीय आध्यात्मिक व दार्शनिक सन्देश दिया।

इस विवेचन के उपरांत निम्न प्रश्न फिर भी उठ खड़े होते हैं –

1. क्या विभिन्न संदर्भ एक ही भर्तृहरि से सम्बंधित हैं ?
2. यदि वे भिन्न हैं तो काल–क्रम का अन्तर की कैफियत क्या हो सकती है ?
3. निष्कर्ष क्या निकलता है ?

उक्त प्रश्नों के उत्तर निम्न हो सकते हैं –

1. विभिन्न संदर्भो से जुड़े एक ही भर्तृहरि को मानना संभव नहीं है। विक्रमकालीन भर्तृहरि, इत्सिंगकालीन भर्तृहरि एवं गोरखनाथकालीन भर्तृहरि को क्षेत्र एवं समय की दृष्टि से भिन्न भिन्न मानना ही होगा। ईसवी पूर्व प्रथम सदी से लेकर 10वीं–11वीं सदी तक के भर्तृहरि भला एक कैसे हो सकते हैं ?

2. निश्चित ही हमें एकाधिक भर्तृहरि को स्वीकार करते हुए विक्रम के अग्रज भर्तृहरि, शतक–त्रय के रचयिता भर्तृहरि, ईत्सिंग के गुरु वाक्यपदीय के लेखक भर्तृहरि एवं गोरखनाथ के शिष्य भर्तृहरि को पृथक् पृथक् मानना ही होगा।

3. भर्तृहरि के एक नाम किन्तु उसके कृतित्व एवं व्यक्तित्व का कालगत एवं क्षेत्रगत पार्थक्य का उत्तर सहज ही है। क्या राजशेखर के अनुसार तीन कालिदास नहीं हुए हैं ? या विक्रमादित्य उपाधिधारी कई भारतीय शासक विभिन्न क्षेत्रों एवं समय में अस्तित्व नहीं रखते रहे हैं ?

निष्कर्ष यह है कि भर्तृहरि नामधारी की विभिन्न कृतियों को एक ही लेखक मान लेना भूल ही सिद्ध होगी।

संदर्भ

1. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, नाथ सम्प्रदाय, पृ. 167
2. राजपुरोहित, भगवतीलाल, भर्तृहरि नामक शोध–लेख के आधार पर,
3. चतुर्वेदी, बृजकिशोर, भर्तृहरि, विक्रम स्मृति ग्रन्थ, पृ. 497
4. उक्त, 498
5. रामलाल, भारत के संत–महात्मा (योगी भर्तृहरि) पृ. 98-100
6. ब्रिग्स : गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज, पृ. 244
7. कीथ : संस्कृत साहित्य का इतिहास (अनु. मंगलदेव शास्त्री) पृ. 626
8. प्रतिपाल भाटिया : दी परमार्स, पृ. 61
9. 'बौद्ध गान और दोहा', मुखबन्ध, पृ. 30
10. चतुर्वेदी, परशुराम : बौद्धों के चर्यापद, पृ. 49-50
11. मिस्टिक टेल्स, पृ. 58-59
12. रांगेय राघव : गोरखनाथ और उनका युग, पृ. 240
13. वर्मा द्वय : भारतीय साहित्य, द्वितीय खण्ड, पृ. 94-95
14. रांगेय राघव : पूर्वोक्त, पृ. 83
15. योग सम्प्रदाय आविष्कृति, पृ. 7
16. द्विवेदी, हजारीप्रसाद : पूर्वोक्त, पृ. 15
17. रामलाल : पूर्वोक्त, पृ. 101

भर्तृहरिकृत – शृंगार शतक और मूर्तिशिल्प – एक अध्ययन

डॉ. रामकुमार अहिरवार

भारतीय साहित्यिक जगत में महाराज भर्तृहरि के तीन शतकों[1] में शृंगार शतक का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है, जिसमें गृहस्थ जीवन के कामकला और नारी सौन्दर्य का अभूतपूर्व वर्णन है। महाकवि के शृंगार शतक में प्रेम–क्रीड़ाओं के वर्णन से उनकी असभ्यता का नहीं , बल्कि तत्कालीन समाज में उनके मनोवैज्ञानिक तथा प्रतीकवादिता का बोध होता है। उन्होंने काव्य के माध्यम से अपने मनोरम मनोभावों तथा दार्शनिक सिध्द्ांतों को व्यक्त किया है। कारण कि उनके नीति शतक एवं वैराग्य शतक में इसकी पूर्णता प्राप्त होती है। जहाँ वे नारी के सौन्दर्यता का वर्णन स्वर्ग के समान करते हैं, वहीं वैराग्य धारण करने पर नारी व नारी सौन्दर्य की भर्त्सना भी उसी भाव से करते हैं, यह विचारणीय है। काव्य का प्रभाव तत्कालीन पूर्व–मध्यकालीन मूर्ति शिल्प में दिखाई देता है। अतएव प्रस्तुत शोध पत्र में शृंगार शतक और मूर्तिशिल्प का अध्ययन ही अभिप्रेत है।

नारी प्रकृति का ही स्वरूप है जिसमें प्रकृति जैसा ही सौन्दर्य व कमनीयता है। भर्तृहरि के अनुसार नारी रूप, रस, गंध त्वचा, वाक (वाणी) का समन्वित रूप है। इसलिए यह आकर्षण का केन्द्र बिन्दु है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की संतुष्टि नारी से होती है।[2] कवि ने उसके नख से शिख तक का वर्णन अपने ढंग से किया है। काव्य का प्रारंभ कामदेव के नमस्कार से होता है और कहा गया है कि मृगनयनियों ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश को दास बना रखा है।[3] यही कारण है कि मूर्तिशिल्प में ये तीनों देव अपनी शक्ति देवी के साथ आलिंगनबद्ध निर्मित किये गये हैं।

भर्तृहरि ने सुन्दर तरुणियों के सौन्दर्य को ही उनका आभूषण माना है। नारी के सौन्दर्य के विषय में कहा है – ''चन्द्रमा के समान खिलने वाला मुख, कमल को लजाने वाले नेत्र, स्वर्ण के समान कांतियुक्त शरीर, भ्रमरियों को जीतने वाले काले–काले केश, हाथी के कुंभस्थल की शोभा को हरने वाले स्तन, स्थूल नितम्ब–स्थल, मन को हरने वाली मधुरवाणी – ये सब तरुण सुन्दरियों के आभूषण हैं ।''[4] ''उस पर भी कंकणों और करधनी में लगे हुए घुंघरुओं के मधुर शब्द तथा पैजनियों के मधुर झंकार, राजहंसियों के कलनाद और मन्द गति भय से चकित हरिणी के समान चंचल नेत्रों के कटाक्ष किसके मन को आकर्षित नहीं करते ?[5] उसकी मन्द–मन्द चाल, चतुराई से भौंहे फेरना, कटाक्ष नैन, मीठी–मीठी बातें, लज्जा से मुस्कराना, ये भाव स्त्रियों के आभूषण हैं।[6] मुख चन्द्रमा के समान, नेत्र शास्त्र–पारंगत और काननचारी, मुख पवित्र है उसमें ब्राह्मणों का निवास है, छातियों पर मुक्त पुरुषों का निवास है, इसलिए नारी का शरीर सतोगुण का धाम है। अतः उसे शीतल और शांतिमय होना चाहिए।[7]

भर्तृहरि ने तरुण सुन्दरियों के स्तन, मुख व चाल से गुरु, चन्द्र व शनि तीनों ग्रहों के होने का संकेत देते हुए कहा है – ''गुरु (असह्य) स्तन के भार में, प्रकाशमान मुख–चन्द्र में और धीरे–धीरे चलने वाले पैरों में क्रमशः गुरु, चन्द्र और शनि (शनैश्चर)
तीनों ग्रहों के स्वरूप दिखाई देते हैं।''[8] वे महारानी पिंगला के असीम सौन्दर्य को देखकर कहते हैं – **''ऐसी तरुण–सुन्दरी**

के आलिंगन में असली स्वर्ग दिखता है ।''[9] कवि ने तो यहाँ तक कहा कि – ***स्वपरप्रतारकोऽसौ निन्दति योऽलीकपण्डितो युवतीः । यस्मात्तपसोऽपि फलं तथाप्सरसः ।।*** अर्थात्– जो विद्वान युवतियों की निन्दा करता है, वह निश्चय ही झूठा पण्डित है। उसने पहले आप धोखा खाया है और अब दूसरों को धोखा देता है, क्योंकि अनेक प्रकार की तपस्याओं का फल स्वर्ग है और स्वर्ग का फल अप्सरा–भोग।[10]

लेकिन इन्हीं भर्तृहरि ने वैराग्य धारण करने पर नारी व नारी सौन्दर्य की भर्त्सना जिस प्रकार से की है, वह भी विचारणीय है। यथा–विषाग्नि जैसे भयंकर कटाक्ष, विशाल फणयुक्त सर्प से काटा हुआ व्यक्ति औषधि से अच्छा हो सकता है, लेकिन स्त्री रूपी सर्प से काटे हुए लोग अच्छे नहीं हो सकते हैं।[11] अंत में वे चेतावनी देते हुए कहते हैं – ''इस संसार में लक्ष्मी चंचल है, ऐश्वर्य चंचल है, जीवन और यौवन क्षणिक व चंचल है, इसलिए हे विद्वान, क्षण मात्र के लिए सुख देने वाली स्त्री समागम से अपने मन को हटा लो और करुणा मैत्री (पुण्य जनों में मैत्री) और प्रज्ञा रूपी स्त्रियों से समागम करो, क्योंकि अंत में नरक जाने पर मुक्ताहार से शुशोभित पुष्ट स्तन–मंडल अथवा शब्दायमान मणि–मेखला वाले नितम्ब रक्षा नहीं कर पायेंगे।[12]

इस प्रकार नारी के दोनों स्वरूपों का प्रतीकांकन भारतीय पूर्व–मध्यकालीन मूर्तिशिल्प में रूपायत दिखाई पड़ते हैं। शृंगार शतक के अनुरूप ही वस्त्राभूषणों से अलंकृत, उन्नतवक्ष, कटिक्षीण, विस्तृत नितम्ब और दीर्घजंघा के माध्यम से ये भारतीय रमणी–सौन्दर्य की कमनीय छवि लिए हुए है। इन सुन्दरियों को मानवीय सौन्दर्य के उच्च स्तर पर अनेक मुद्राओं और हावों–भावों में दिखाया गया है। कहीं वे देवताओं के पार्श्व में स्थित हैं और कहीं हाथों में दर्पण, घट, पद्म आदि लिए प्रदर्शित है। ये सुन्दरियाँ नारी सौन्दर्य के मोहक रूप को उपस्थित करती हैं, जिसमें काम–कला सौष्ठव की परिपक्वता दिखाई पड़ती है। ये समस्त नायिकाएँ अपने शरीरों पर नाना प्रकार के आभूषणों को धारण किए हुए हैं, जिसके माध्यम से लोक संस्कृति वास्तविक रूप कला में प्रतिबिम्बित हुई हैं। वास्तव में इन दृश्यों के माध्यम से सामाजिक और धार्मिक जीवन में नारियों की प्रधानता को स्वीकार किया गया है।

मालवा से दैविक एवं लौकिक गौण देवी–देवताओं की अनेक प्रकार की आलिंगनबद्ध प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। जिनमें काम–जाग्रति के प्रमुखतम अंगों में ''आलिंगन'' का सबसे बड़ा महत्व प्रदर्शित किया गया है। क्योंकि यही दो आत्माओं के मिलन का प्रतिबिम्ब है एवं एक दूसरे का एक दूसरे के प्रति होने वाले समर्पण का प्रतीक है, प्रेम का उपहार है। अहंकार व क्रोध जैसे शत्रुओं के तिरोहित होने का शुभ संकेत है। शरीर में विद्युत् समान ऊर्जा उत्पन्न करने के लिए मानो निगेटिव व पोजीटिव तार हैं । इसलिए आलिंगन ही काम की सबसे पहली प्रक्रिया है।[13] इन प्रतिमाओं से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि देवों की उनकी पत्नियों के बीच रहने वाला प्रेम भी पृथ्वी पर निवास करने वाले मानवीय प्रेम से किसी भी भांति कम नहीं था। विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन के संग्रहालय में संरक्षित कुछ मिथुन प्रतिमाओं के अतिरिक्त अनेक प्रतिमाएँ ललितासन अथवा सुखासन में पति–पत्नि रूप में प्रदर्शित हुई हैं एवं इनके मुख पर प्रदर्शित स्मित, मुस्कुराहट ही काम का प्रतीक है। इन प्रतिमाओं में देखा जाए तो आलिंगन के नाम पर ''क्षीरांगिरक आलिंगन'' का प्रयोग ही अधिक उपयुक्त लगता है, क्योंकि इन देवों के प्रेम में कोई कृत्रिमता नहीं, बल्कि उसमें नीर–क्षीर की भांति दो तन–एक आत्मा की झलक है, जिसके कारण उनके नाम, अमरता के द्योतक रहे हैं और उनका प्रेम ऐसा शाश्वत प्रेम है, जिससे मानव जाति को सच्चे

प्रेम से प्रेरणा मिलती है। वे अमर हैं, उमा–महेश्वर, लक्ष्मी नारायण जैसे युगल स्वरूप अपने अमर प्रेम के कारण ही पूजनीय है।

इन प्रतिमाओं में मानव जीवन में प्रेम को साकार रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा में **''एकोऽहं बहुस्याम्''** का सिद्धांत छिपा है, जो ब्रह्म–सृजन इच्छा का प्रतीक है और उस सृजन का माध्यम है नर–नारी। सृष्टि रचना में जिस प्रकार ब्रह्मा और प्रकृति का संयोग है, वहीं मानव सृजन में नर–नारी का मिलन आवश्यक है। इस प्रकार का वर्णन भर्तृहरि अपने शतक में निर्भय रूप से करते हैं। मनुष्य जीवन के कार्य, धर्म के अंग माने गये हैं। ''मैथुन'' भी धर्म का एक अंग ही है। मैथुन एक यज्ञ है, क्योंकि इससे जीवन का प्रदुर्भाव होता है। **''छांदोग्य–उपनिषद्''** में यह निर्देश है– ''नारी अग्नि है, उसका गर्भाधान ईंधन है। पुरुष का नियंत्रण ही धूम्र है। कर्त्ता ही लपट और तज्जन्य आनन्द ही अग्नि है। ज्यों ज्यों जीवन का कर्मठ पक्ष शिथिल होता गया त्यों–त्यों स्त्री–पुरुष सम्बंधी ग्राह्य भावों ने संभ्रान्त धार्मिक अर्चा की जगह ले ली और ब्रह्मानन्द का रसानुभाव सहज में प्राप्त होने वाले संभोग सुख के रसानुभाव की कल्पना से मापा जाने लगा। शिल्प में स्त्री–पुरुषों की नग्न मूर्तियों के निर्माण की परम्परा आरम्भ हुई, जिनकी व्याख्या देवताओं और उनकी शक्तियों के रूप में की जाने लगी।

भर्तृहरि के त्रिशतकों को मूर्त रूप देती ये मूर्तियाँ साधना की भी कसौटी हैं। साधना से तात्पर्य है कि सांसारिक पूर्ण अनुभव और ज्ञान करने के पश्चात् संसार से वैराग्य लेकर ब्रह्म की प्राप्ति में लगना। यह कटु सत्य है कि बिना किसी वस्तु के अनुभव किए उसका परित्याग संभव नहीं है। इसलिए वैराग्य के लिए अनुराग का परित्याग आवश्यक बताया गया है। इसी दृष्टि से भर्तृहरि ने मानव जीवन के तीनों चरणों– शृंगार, नीति एवं वैराग्य का वर्णन किया है।

मनुष्य जीवन का मूल उद्देश्य – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष है। यही मानव जीवन के चार पुरुषार्थ हैं। ये चारों ही एक दूसरे के पूरक और पर्याय हैं। इन चारों में भर्तृहरि ने सर्वप्रथम काम को ही प्रधान तत्त्व माना है। जो धर्म का ही रूप है क्योंकि धर्म से अर्थ है अर्थात् धर्मपूरक अर्थ वास्तविक सुखदायी व आनन्दप्रद होता है। इसी भांति धर्म ही काम है। मानव जीवन का धर्म है कि जिस सृष्टि सृजन के लिए वह पैदा हुआ है वह सृजन का कार्य काम के द्वारा सफलीभूत करे और अंत में धर्म के अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति करे । इस प्रकार मानव जीवन के पुरुषार्थों में धर्म और काम को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। खजुराहो के मंदिरों में भी जीवन के महत्वपूर्ण पक्ष धर्म और काम का निरूपण कर जन–सामान्य को एक ही साथ सांसारिक और आध्यात्मिक मनः स्थिति में लाना और अन्ततः धार्मिक भावना में लिप्त करना भी शिल्पी का उद्देश्य हो सकता है।

पूर्व–मध्यकालीन नारी प्रतिमाओं में भी काम का प्रधान तत्त्व मौजूद है। जो धर्म का ही रूप है। जिसके पूजन से अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह प्रायः देखा गया है कि बड़े–बड़े सन्त प्रायः अपने प्रारम्भिक जीवन में काम के वशीभूत थे। बाद में ऐसे पुरुष सरलता से सांसारिक अनुराग त्यागकर परमात्मा के प्रेम में लीन हो गये। इस प्रकार संभोग–सुख परमानन्द की प्रतिच्छाया मात्र ही नहीं, वरन् वह परमानन्द की ओर ले जाने का एक माध्यम है। संभोग सुख के हर संभव रूप को मूर्तियों द्वारा मस्तिष्क शुद्धि का ज्ञान प्राप्त करते हुए परमात्मा की अनुभूति कर सके। यही संदेश इन प्रतिमाओं में मिलता है। इन मूर्तियों में एक संदेश यह भी मिलता है कि जब सांसारिक उपभोगों से काम पर विजय प्राप्त

करलो, तब मंदिर में प्रवेश करो और फिर उस ब्रह्म को पाओ, जिसे पाना उसका अंतिम लक्ष्य है और इसकी पुष्टि भर्तृहरि के त्रिशतक से होती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भर्तृहरि ने अपने शृंगार शतक में नारी सौन्दर्य के जो प्रतिमान स्थापित किए हैं वे प्रतिमान मध्यभारत के पूर्व मध्यकालीन मूर्तिशिल्प में विद्यमान दिखाई पड़ते हैं। ये मूर्तियाँ प्रतिहार, परमार, चन्देल एवं कलचुरि राजवंशों के संरक्षण एवं उन्नयन में निर्मित हुई जो मध्यप्रदेश शासन के विविध पुरातत्व संग्रहालयों में संरक्षित हैं। इस क्षेत्र में और अधिक अध्ययन करने की आवश्यकता है।

1. शृंगार शतक, नीति शतक, वैराग्य शतक
2. भर्तृहरिकृत–शृंगार शतक, 7,18, (टीकाकार बाबू हरिदास वैद्य), हरदास एण्ड कम्पनी प्रा. लिमिटेड, मथुरा 2007
3. भर्तृहरिकृत–शृंगार शतक, 01. (टीकाकार बाबू हरिदास वैद्य), हरिदास एण्ड कम्पनी प्रा. लिमिटेड, मथुरा 2007
4. भर्तृहरिकृत–शृंगार शतक, 5,15
5. भर्तृहरिकृत–शृंगार शतक, 8,20
6. शृंगार शतक, 2-3,11
7. शृंगार शतक, 12,25
8. शृंगार शतक, स्त्री महिमा, 16,51
9. शृंगार शतक, वैराग्य पक्ष, 24,85
10. शृंगार शतक, शिशिर–महिमा, 57,151
11. शृंगार शतक, कामिनी–ग्रहण–प्रशंसा, 72-75, 188-206
12. शृंगार शतक,कामिनी–ग्रहण–प्रशंसा, 72,197

विभागाध्यक्ष
भा.प्रा.इ.सं. वि.
विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन

भर्तृहरिकृत प्रतिभावाक्यार्थ विवेचन

आचार्य : डॉ. सदानन्द त्रिपाठी

भर्तृहरिकृतं प्रतिभावाक्यार्थविवेचनम्।
'वाक्यपदीय' माश्रित्य शोधपत्रेऽत्र वर्ण्यते॥

शुक्लयजुर्वेदीय माध्यन्दिनशाखा के शतपथब्राह्मण के चौदहवें काण्ड का अन्तिम भाग 'बृहदारण्यकोपनिषद्' नाम से अभिहित किया जाता है। इसके प्रवचनकर्ता महर्षि याज्ञवल्क्य हैं । इसमें वर्णित याज्ञवल्क्य–जनक संवाद आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान– विवेचन की दृष्टि से नितान्त उपादेय है। संवाद–क्रम से विदित होता है कि आचार्य शिलिन के पुत्र शैलिनि ने राजर्षिजनक को उपदेश देते हुए कहा है – 'वाग्वै ब्रह्मेति'[1] अर्थात् वाक् ही ब्रह्म है। सामवेदीय तलवकार ब्राह्मणोक्त छान्दोग्योपनिषद् में वागरूपी ब्रह्म का स्वरूप–लक्षण–निर्देश करते हुए कहा गया है कि वाक् ही ब्रह्म का चौथा पाद है, वह अग्निरूप ज्योति से दीप्त होता है और तपता है। जो इस प्रकार से इसको जानता है वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज के कारण देदीप्यमान होता हुआ तपता है –

वागेवब्रह्मणश्चतुर्थःपादः। सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद।[2]

इसी उपनिषद् में अन्यत्र मन, प्राण और वाक्तत्त्व के सम्बंध में श्वेतकेतु द्वारा जिज्ञासा प्रकट किये जाने पर आचार्य आरुणि कहते हैं कि हे सोम्य! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है ; – अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति0 .....।[3]

उपर्युक्त वाक्यत्त्व जिसको आत्मतत्त्व, ब्रह्म, शब्दतत्त्व आदि विविध रूपों –नामों से प्रतिपादित किया गया है वह 'प्रतिभा' की ही अनेक विध रूपों में व्याख्या है। मूलतः सृष्टि के प्रारंभ में प्रतिभा ही मौलिक पदार्थ है। निगमागम–साहित्य में मेधा, मनीषा, प्रज्ञा प्रभृति शब्दों के द्वारा प्रतिभा का अभिप्राय सुस्पष्ट किया गया है। वैयाकरण अर्थतत्त्व के जिस परम चरम निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, वह है प्रतिभा। सृष्टितत्त्व के मूल में, समग्र ज्ञान–विज्ञान के मूल में, समस्त वैदिकवाङ्मय के साङ्गोपाङ्ग के मूल में जो एक परमतत्त्व परमाणु–रूप से सन्निहित है, वह है प्रतिभा। प्रतिभा की शक्ति अनन्त, अपरिमित और अनिर्वचनीय है। उसी को वैयाकरणों ने वाक्तत्त्व कहा है। सृष्टि के प्रत्येक परमाणु में जितना जो कुछ भी चैतन्य है, वह वाक्तत्त्व है, वह प्रतिभा है। आचार्य भर्तृहरि ने उसी को महासत्ता, जाति, भाव नित्य, सत्य आदि नामों से अभिहित किया है :–

जातिप्रत्यायकेशब्दे या व्यक्तिरनुषङ्गिणी।
न तान् व्यक्तिगतान् भेदान् जातिशब्दोऽवलम्बते॥
इदं तदिति सान्येषामनाख्येया कथञ्चन।
प्रत्यात्मवृत्तिसिद्धा सा कर्त्राऽपि न निरूप्यते॥
साक्षाच्छब्देन जनितां भावनानुगमेन वा।
इति कर्त्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्तते॥[4]

ध्यातव्य है कि सृष्टि के इतिहास में समग्र ज्ञानराशि के आकरग्रंथ वेदों के पश्चात् जो सबसे महान् क्रान्तिकारी अन्वेषण या आविष्कार हुआ है तो वह है स्फोटसिद्धान्त, वह है प्रतिभा का साक्षात् विश्लेषण, वह है प्रतिभा के नित्यांश का साक्षात्कार, वह है प्रतिभा के नित्यांश और अनित्यांश का दो भागों में पृथक्करण। नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा को ही प्रतिभा कहा जाता है, यथा 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभोच्यते'।[5] अन्यच्चापि – 'प्रज्ञा नव–नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता'।[6]

आचार्य भर्तृहरि प्रणीत 'वाक्यपदीयम्' के टीकाकार पुण्यराज भी निर्दिष्ट करते हुए कहते हैं कि अखण्ड पक्ष के तीनों वाक्य के लक्षणों में प्रतिभा वाक्य का अर्थ है ; –

आख्यातशब्दः सङ्घातो जातिः सङ्घातवर्त्तिनी।

एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृतिः॥[7]

प्रतिभा को वाक्यार्थ – कथन के अभिप्राय के सम्बंध में परम वैयाकरण नागेशभट्ट का अभिमत है कि वाक्य का अर्थ प्रतिभा का ही विषय है। प्रतिभा का विषय होने से वाक्यार्थ के लिए प्रतिभा शब्द व्यवहृत होता है।[8] महामीमांसक कुमारिल भट्ट– –टाचार्य ने प्रतिभा के सम्बंध में स्वमन्तव्य प्रकट करते हुए कहा है कि पदार्थों के विषय में मनुष्यों की प्रतिभा विभिन्न प्रकार की उद्भूत होती है, फिर भी वाक्य का अर्थ बाह्य पदार्थ ही मानना चाहिए।[9] नैयायिक जयन्तभट्ट की दृढ़ मान्यता है कि प्रतिभा ज्ञान है, वह शब्द से उत्पन्न होती है। वह शब्द का विषय नहीं है, जैसे रूप का ज्ञान चक्षु का। प्रतिभा के विषय पदार्थ वाक्यार्थ है। प्रतिभा वाक्य का अर्थ नहीं है।[10]

जो कोई भी शब्द है वह प्रतिभा का कारण है, अतः वास्तविक रूप से प्रतिभा ही एक वाक्य का अर्थ है। भर्तृहरि और उनके टीकाकार पुण्यराज ने प्रतिभा को वाक्यार्थ मानकर विशद विमर्श प्रस्तुत किया है। शब्द प्रतिभा को जागृत करने का कार्य करता है। शब्द के श्रवणमात्र से जिस व्यक्ति या जीव की जिस प्रकार की प्रतिभा जागृत होती है, वही उसके लिए उस शब्द का अर्थ होता है। क्योंकि, प्रत्येक की प्रतिभा कथमपि समान नहीं होती है। अतः सभी को एक शब्द से एक ही समान ज्ञान नहीं होता है। ऐसी परिस्थिति में वस्तु का क्या स्वरूप है ? यह ऐसा है, इस रूप में (इदमित्थम्) कोई नहीं बता सकता है। प्रत्येक व्यक्ति (प्राणी) अपनी प्रतिभा के सामर्थ्य– अनुरूप उसको उस भिन्न–रूप में समझता है, जानता है और देखता है। प्रतिभा अखण्ड है, अतः वाक्यार्थ अखण्ड और एक होता है। उसका स्वरूप व्यक्ति की प्रतिभा पर निर्भर रहता है। शब्द ज्ञानवान् प्राणियों के ही प्रतिभा को उदबुद्ध नहीं करता है, अपितु शिशु, पशु–पक्षी आदि को भी अर्थ का अवबोध कराता है। बालकों, पशु–पक्षियों आदि को जन्म–जन्मान्तर की अनादि वासना के कारण शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रत्येक की प्रतिभा अपनी–अपनी विभिन्न जाति के अनुसार नियत है। उसी का प्रज्ञान होता है तथा तदनुसार सम्पूर्ण जागतिक कार्य व्यापार सम्पन्न होता है। सभी सजीव प्राणियों के द्वारा प्रतिभा अनुभूत होती है। निश्चय रूप से यह शब्द का कारण है, सारे व्यवहार–समुदाय का मूल कारण है, अतएव प्रतिभा को वाक्यार्थ स्वीकार किया गया है। अभ्यास के कारण शब्द को प्रतिभा का कारण होने की मान्यता प्रदान की जाती है। वह अभ्यास (वासनागत संस्कार) इस वर्तमान जन्म का होता है, अथवा जन्मान्तर का।

अभ्यासात्प्रतिभाहेतुः शब्दः सर्वोऽपरैः स्मृतः।
बालानां च तिरश्चां च यथार्थप्रतिपादने॥
अनागमश्च सोऽभ्यासः समयःकैश्चिदिष्यते।
अनन्तरमिदं कार्यमस्मादित्युपदर्शनम्॥

अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्व देवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु॥
प्रयोगदर्शनाभ्यासादाकारावग्रहस्तु यः।
न स शब्दस्य विषयः स हि यत्नान्तराश्रयः॥[11]

वाक्यपदीयटीकाकार पुण्यराज का कथन है कि आचार्य भर्तृहरि ने अपने इस व्याकरणदर्शन विषयक महनीय ग्रन्थरत्न में छह प्रकार के वाक्यार्थ का विवेचन प्रस्तुत किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं –1) संसर्ग 2) प्रयोजन 3) संसृष्टि 4) निराकाङ्क्षपदार्थ 5) प्रतिभा और 6) क्रिया।

प्रतिभा वाक्यार्थ

जो वैयाकरण महानुभाव वाक्यार्थ को अखण्ड, अनंश–स्वरूप में मान्यता प्रदान करते हैं ; उनका ही एक समुदाय प्रतिभा को वाक्यार्थ–रूप से स्वीकार करता है। आचार्य भर्तृहरि का भी स्वयं का अपना एक वैदुष्यपूर्ण 'प्रतिभादर्शन' है। उन्होंने प्रतिभा को वाक्यार्थ – रूप में प्रतिपादित किया है :–

विच्छेदग्र हणेऽर्थानां प्रतिभाऽन्यैव जायते।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम् ॥[12]

उदाहरणार्थ यज्ञदत्त–सोमदत्तादि के पृथक्- पृथक् अर्थ–ग्रहण के समय तत्तत् पदों से एक विशिष्ट प्रकार की प्रतिभा का प्रादुर्भाव होता है, यही वाक्यार्थ है। पुण्यराज की स्वीकारोक्ति है कि वैयाकरणों के मतानुसार शब्द स्फोट है और अर्थ प्रतिभा है। स्फोट लक्षण शब्द में कोई विभाग नहीं है। इसी प्रकार वाक्यार्थ लक्षण प्रतिभा में कोई विभाग नहीं है। वाक्य और वाक्यार्थ में अध्यासलक्षण –सम्बन्ध है ;–

तत्र वैयाकरणस्याखण्ड एवैकोऽनवयवः शब्दः स्फोटलक्षणो वाक्यम्, प्रतिभैव वाक्यार्थः अध्यासश्च सम्बन्ध इति ।[13]

प्रतिभा की अभिव्यक्ति असत्यभूत पदार्थों से होती है। भले ही पदार्थों का परिज्ञान पृथक्–पृथग् ही हो। भावार्थ ग्रहण के समय एक ही प्रतिभा व्युत्पन्न होती है, वह पदार्थों से व्यतिरिक्त नहीं होती। पुण्यराज के अभिमतानुसार प्रतिभा में एक अखण्डभाव का परिज्ञान अपेक्षित है, अतः अभिहितान्वयवाद अथवा अन्विताभिधानवाद सदृश पदार्थ–वाक्यार्थ विचारपरक किसी वाद का प्रतिभावाक्यार्थ में कोई स्थान नहीं है :–

प्रतिभायां त्वेकरसैव प्रतिपत्तिरिति न तत्र काचिदभिहितान्वयान्विताभिधानचर्चा।[14]

भर्तृहरि का वाक्यार्थ रूप प्रतिभा से प्रयोजन एक प्रकार की आन्तरिक बुद्धि से है, क्योंकि वह स्वसंवेदनसिद्ध है। उसको किसी अन्य प्रकार से यथावत् स्वरूप में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। प्रतिभा–बल के द्वारा ही पदार्थों में परस्पर संश्लेष–सा सन्निहित रहता है। प्रतिभा ही वह तत्त्व है जो कि समस्त विषयों का आकार सा धारण कर लेने की सामर्थ्य रखता है। कभी वह किसी शब्द के माध्यम से अभिव्यक्त होती है और कभी पूर्वोक्त अनादिवासना–संस्कार से आविर्भूत होती है। लोक भी प्रतिभा को प्रमाणस्वरूप स्वीकार करता है। लौकिक प्रमाण के रूप में पुण्यराज कविकुलगुरु महाकवि कालिदास के अधोनिर्दिष्ट कथन को उपस्थापित करते हैं ;– ''सतां हि सन्देह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करण प्रवृत्तयः।''[15] यह अभियुक्तोक्ति प्रतिभा के प्रामाण्य का प्रबल समर्थन करती है। जिस प्रकार विशेष द्रव्यों के परिपाक से

किसी विशेष अन्य प्रयत्न के बिना ही उस

द्रव्य में मदशक्ति स्वाभाविकरूप से स्वयमेव समाविष्ट हो जाती है, उसी प्रकार प्रतिभा भी सहज रूप से अभ्यास (संस्कार) के अतिरिक्त अन्य किसी 'उपादान–साधन' के बिना ही उद्‌बुद्‌ध हो जाती है। वसन्त–ऋतु के समागमन पर कोयल की कूक में सरस–माधुरी कौन भरता है? पक्षी समुदाय को नीड़निर्माण (घोंसला बनाना) की शिक्षा कौन प्रदान करता है ? यह सब प्रतिभा का ही अभ्यास–संस्कार जन्य कार्य है। पशु–पक्षियों तथा शिशुओं में आहार – ग्रहण (स्तनपान आदि), परस्पर राग–द्वेष, तैरना–उड़ना आदि स्वयमेव स्वाभाविक रूप से अनादि प्रतिभावशात् सन्निविष्ट हो जाते हैं। उपर्युक्त से प्रमाणसिद्‌ध है कि भर्तृहरि ने मूल प्रवृत्ति (Instinct – इंस्टिंक्ट) और आन्तरिक ज्ञान–प्रवृत्ति (Intution – इण्ट्यूशन) को प्रतिभा–भेद माना है

प्रमाणत्वेन तां लोकः सर्वः समनुपश्यति।
समारम्भाः प्रतीयन्ते तिरश्चामपि तद्‌वशात्॥
यथा द्रव्यविशेषाणां परिपाकैरयत्नजाः।
मदादिशक्तयो दृष्टाः प्रतिभास्तद्‌वतां तथा॥
स्वरवृत्तिं विकुरुते मधौ पुंस्कोकिलस्य कः ?।
जन्त्वादयः कुलायादिकरणे केन शिक्षिताः ? ॥
आहार प्रीत्यभिद्वेष प्लवनादिक्रियासु कः ?।
जात्यन्वयप्रसिद्‌धासु प्रयोक्ता मृगपक्षिणाम्॥[16]

आचार्य भर्तृहरि की प्रतिभा की इस सुष्ठु परिभाषा का समर्थन काश्मीर शैवदर्शन के परमाचार्य, महाभट्‌टारक अभिनवगुप्तपाद ने इस प्रकार किया है :–

'समाधाननैर्मल्यात्मिका प्रतिभा इति तत्रभवद् भर्तृहरि प्रभृतयः।'[17]

आवन्तिक, महावैयाकरण, दार्शनिकशिरोमणि आचार्य भर्तृहरि ने विविध गुणगणमयी प्रतिभा के छह भेद निर्धारित किये हैं :–

स्वभावचरणाभ्यासयोगा दृष्टोपपादिता।
विशिष्टोपहिता चेति प्रतिभां षड्‌विधां विदुः॥[18]

उपर्युक्त कारिकानुसार प्रतिभा के छह नाम इस प्रकार हैं :–

1) स्वभावजन्या (स्वाभाविकी) प्रतिभा 2) चरणजन्या प्रतिभा 3) अभ्यास

1. बृहदारण्यकोपनिषद् 4.1.2 शाङ्करभाष्यम्, गीता प्रेस – गोरखपुर संस्करणम्, विक्रमाब्दः 2055
2. छान्दोग्योपनिषद् 3.18.3 वहीं
3. छान्दोग्योपनिषद् 6.5.4 वहीं
4. वाक्यपदीयम् द्वितीयकाण्डम्, श्लोकाः
5. रुद्रकोशः
6. आचार्यःभट्‌टतौतः

7. वाक्यपदीयम् द्वितीयकाण्डम्, कारिका।
8. वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा, पृष्ठ 417, वाराणसी संस्करणम्, 1985 ई.
9. श्लोकवार्त्तिकम् वाक्याधिकरणम् / कारिका 325-327
10. न्यायमञ्जरी, पृष्ठं 335-336
11. वाक्यपदीयम्, द्वितीयकाण्डम् / कारिका 117-118-119-120
12. वाक्यपदीयम् द्वितीयकाण्डम्, कारिका 143
13. वाक्यपदीयम् 2/1 पुण्यराजकृताटीकायाम्
14. वाक्यपदीयम् 2/1 पुण्यराजकृताटीकायाम्
15. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथमोऽङकः, श्लोकः 21 उत्तरार्द्धः
16. वाक्यपदीयम् द्वितीयकाण्डम्, कारिका 147-148-149-150
17. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, तृतीयः भागः, पृष्ठं 209
18. वाक्यपदीयम् द्वितीयकाण्डम्, कारिका 152

आचार्य
शा.सं.महाविद्या. उज्जैन

'भर्तृहरि की शतकत्रयी : एक समग्र जीवन दृष्टि'

डॉ. इला घोष

मानवजाति की शिवतम उपलब्धि है 'काव्य'। ऋग्वेद के मन्त्रदृष्टा ऋषियों से लेकर अद्यतन युग तक; सहस्रों वर्षों की इस सनातन काव्य–धारा में जिन कवियों की वाङ्मयी सृष्टि 'न ममार न जीर्यति' की गरिमा को प्राप्त हुई है, उनमें से एक है – भर्तृहरि। उनके इस कालजयित्व का कारण है – शतकत्रयी, जो कई शताब्दियों के अतीत हो जाने के बाद भी, आज तक विश्व मानव के लिए प्रासंगिक, मूल्यवान् और पथप्रदर्शक बनी हुई है।

उत्कृष्ट ग्रन्थ रत्न होते हुए भी शृंङ्गार–नीति और वैराग्य शतक को तत्कालीन विद्वत्समाज मे 'त्रयो' दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः' की भाँति समुचित सम्मान नहीं मिला। सामाजिक अस्वीकृति और उपेक्षाजन्य पीड़ा को कवि ने –

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवःस्मयदूषिताः।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम्॥[1]

के द्वारा अभिव्यक्त किया तो –

सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम्?[2]

तथा –

न विटा न नटा गायका न ..... नृपसद्मनि नाम वयम्[3]

के द्वारा कविजनोचित स्वाभिमान को भी।

परस्पर विरुद्ध भावों की व्यञ्जक रचनाओं के कारण कवि के दोलायमान अस्थिर जीवन, व्यक्तित्व और चरित्र पर कई प्रश्न चिह्न लगाये गये तथा प्रणय की विफलता को उनके वैराग्य का कारण माना गया। प्रस्तुत आलेख में इन प्रश्नों का उत्तर; उस संस्कृति में खोजने का प्रयास किया गया है, जिसे हम हिन्दु संस्कृति कहते हैं तथा जिसका आधार वैदिक संस्कृति रही है।

भर्तृहरि की ये तीन कृतियाँ मानव जीवन के उन तीन लक्ष्यों की प्रतिपादक हैं, जिन्हें भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ, काम, धर्म और मोक्ष कहा गया है। ये जीवन के वे पड़ाव हैं जिन्हें गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के रूप में जाना जाता है। भर्तृहरि की इस काव्य यात्रा को हम अन्नमय कोष से आनन्दमय कोष की यात्रा के रूप में समझ सकते हैं।

भर्तृहरि अपने इस रचना संसार में प्रवेश करते हैं, उस प्रबल शक्ति के साथ –

तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय[4]

जिसे विश्व के आद्य ग्रंथ ऋग्वेद में, मन का प्रथम रेतस् और सृष्टि का बीज कहा गया है –

कामस्तदग्रे समवर्ततााधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत।[5]

वात्स्यायन मुनि भी अपने शास्त्र के प्रारंभ में धर्म और अर्थ के साथ काम को नमस्कार करते हैं –

धर्मार्थकामेभ्यो नमः।[6]

काम, सुखभोग की वह मूल प्रवृत्ति है जो दूसरे की इच्छा करती है, जो सृष्टि द्वारा एक से अनेक होना चाहती है, जैसा कि उपनिषदों में कहा गया है –

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्।[7]

वह द्वितीय तत्त्व है, 'स्त्री' जिसे पाकर 'मिथुन' रूप में पुरुष पूर्ण होता है –

यदा वै स मिथुनेन अथ सर्वोऽथ कृत्स्नः।[8]

सांख्य इसे प्रकृति कहता है, वेदान्त माया, तो शैव मन शक्ति –

शिवशक्ति संयोगाद् जायते सृष्टि कल्पना।[9]

भर्तृहरि के अनुसार इस काम नामक दिव्य शक्ति अर्थात् कामदेव ने, कामिनियों के माध्यम से सम्पूर्ण जगत् को, यहाँ तक कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश को भी अपने वश में करते हुए; एक दृढ़ बंधन में बाँध लिया है, क्योंकि स्त्रियों की प्रत्येक चेष्टा, हाव–भाव और भङ्गि मा पुरुष को अपने वश में करने वाली, बाँधने वाली ही होती है –

स्मितेन भावेन च लज्जया भिया,
पराङ्मुरवै रद्धकटाक्षवीक्षणैः।
वचोभिरीर्ष्या कलहेन लीलया,
समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः॥[10]

ये सब उनके भूषण हैं और आयुध भी। अंग, सौन्दर्य, कमनीयता, माधुर्य और लालित्य उन्हें निसर्गतः प्राप्त हुये हैं

वक्त्रं चन्द्रविकासि पङ्कजं परिहासक्षमे लोचने,
वर्णःस्वर्णमपाकरिष्णुरलिनी जिष्णुकचानायः।
वक्षोजाविभकुम्भसम्भ्रमहरौ गुर्वी नितम्बस्थली,
वाचां हारि च मार्दवं युवतिषु स्वाभाविकं मण्डनम्॥[11]

इस नैसर्गिक आकर्षण के कारण ये सहज ही युवा मन को हर लेती है, फिर तो इनके बिना सारा संसार ही अंधकारमय हो जाता है –

विना मे मृगशावाक्ष्यां तमोभूतमिदं जगत्॥[12]

ये कामिनियाँ मनुष्य की कामना को क्रमशः बढ़ाती हैं। इनके प्रदर्शन में दर्शन मात्र की आकांक्षा रहती है, दर्शन होने पर समालिङ्न की और वह भी मिल जाने पर अस्तित्व को एक कर देने की लालसा प्रबल हो उठती है –

अदर्शने दर्शनमात्रकामा ..... आशास्महे विग्रहयोरभेदम्![13]

'काम' केवल रतिजन्य आनन्द ही नहीं है, अपितु वात्स्यायन की परिभाषा के अनुसार इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले सभी प्रकार के सुख काम हैं –

श्रोत्रत्वक् चक्षुर्जिह्वाघ्राणानात्मसंयोगेन मनसा अधिष्ठितानां स्वेषु
स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः।[14]

भर्तृहरि ने मानो वात्स्यायन की इस परिभाषा को ही अन्वर्थ करते हुए पाँचों इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की अनुकूल प्रवृत्ति स्त्री में ही मानी है –

द्रष्टव्येषु किमुत्तमं मृगदृशां प्रेमप्रसन्नं मुखम्,

घ्रातव्येषु किं तदास्यपवनः श्राव्येषु किं तद्वचः।

किं स्वाद्येषु तदोष्ठपल्लवरसः स्पृश्येषु किं तत्तनुः,

ध्येयं किं नवयौवनं सहृदयैः सर्वत्र तद्विभ्रमः॥[15]

भर्तृहरि की दृष्टि में यह काम–सुख ही स्वर्ग है, शेष सब परिशिष्ट ही है –

वक्षसि प्रियतमा मनोहरा, स्वर्ग एवं परिशिष्ट आगतः॥[16]

यह सुख पुण्य से भाग्यशालियों को ही मिल पाता है –

पुण्यं कुरुष्व यदि तेषु तवास्ति वाञ्छा।[17]

अधरमधु वधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति।[18]

कवि की दृष्टि में काम केवल एक जैविक क्रिया मात्र नहीं है। काम की सफल परिणिति, रति का मधु–फल, स्त्री पुरुष की एकात्मता में निहित होती है, विपरीत स्थिति में, यह चेष्टा शव के साथ किय गये संभोग के समान ही होती है।

एतत्कामफलं लोके यद् द्वयोरेकचित्तता।

अन्यचित्तकृते कामं शवयोरिव सङ्गमः॥[19]

भर्तृहरि ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में काम के इस रहस्य को उद्घाटित करते हुए, कामान्ध बलात्कारियों के विरूद्ध आवाज़ उठाई है।

काम यौवन का नैसर्गिक धर्म होने के साथ ही सामाजिक धर्म भी है।
वात्स्यायन ने कहा है –

शतायुर्वै पुरुषो विभज्य कालमन्योन्यानुबद्धं परस्परस्यानुपघातकं

त्रिवर्गं सेवेत। .... कामं च यौवने। स्थविरे धर्मं मोक्षं च।[20]

यौवन कामपुरुषार्थ के अर्जन और उपभोग का काल है। गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए यौन संतुष्टि के साथ ही प्रजातन्तु को; सृष्टि–सूत्र को, अविच्छिन्न रखने के लिए भी यह आवश्यक है, जैसा कि तैत्तरीयोपनिषद् के दीक्षान्त उद्बोदन में कहा गया है –

प्रजातन्तुं मा व्यच्छेत्सीः।[21]

गीता में भगवान् कृष्ण ने भी कहा है –

प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः।[22]

अतः भर्तृहरि की दृष्टि में कन्दर्प का दर्प–दलन करने वाले मनुष्य इस संसार में विरल ही है –

किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य,

कन्दर्पदर्पदलने विरलाः मनुष्याः।[23]

जब विश्वामित्र और पराशर जैसे, वायु, जल और पत्तों से ही क्षुधा निवृत्ति करने वाले तपस्वी भी स्त्री के सुन्दर मुख को देखकर मोह–ग्रस्त हो गये तो श्रेष्ठ अन्न और व्यंजनों को अशन करने वाले सामान्य मनुष्य की तो बात ही क्या ? उनके लिए इन्द्रिय निग्रह वैसे ही असंभव है, जैसे कि समुद्र में विंध्यपर्वत का तैरना –

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशिना–
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा –
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत्सागरम्॥[24]

यह इस जगत् की, लोक की एक सामान्य यथार्थ स्थिति है। किन्तु हमारे शास्त्र और दर्शन तो सभी प्रकार के संसर्ग त्याग की बात करते हैं। जब मन की असंख्य कामनाओं का कोई अन्त नहीं होता, जब क्षणिक तृप्ति में अतृप्ति का दुःख मिल जाता है, तब प्रारंभ होता है – द्वन्द्व। किंकर्तव्यता का प्रश्न ? इस द्वन्द्व को, इस प्रश्न को बड़े ही साहस के साथ भर्तृहरि ने जगत् के सम्मुख उठाया है –

(क) विद्मः कि कुर्मः कतिपम निमेषायुषि जने।
(ख) मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्य –
मार्याः समर्यादमिदं वदन्तु।
सेव्याः नितम्बा किमु भूधराणा–
मुतस्मरस्मेरविलासिनीनाम्॥[25]

प्रश्न यह है कि काम या शृंङ्गार जीवन का लक्ष्य हो ? अथवा वैराग्य ? इस प्रतिक्षण परिवर्तनशील नश्वर संसार में दो ही विकल्प हैं – यौवनं वा वनं वा ;

द्वे गती पण्डितानाम् तत्त्वज्ञानामृताम्भ प्लुतलुलितधियां यातु कालः कदाचित्॥
अथवा – नो चेन्मुग्धाङ्ग नानां .... स्पर्शलीलोद्यतानाम्॥[26]

इनमें से एक को श्रेय कहा गया है दूसरे को प्रेय। प्रेय का मार्ग सहज है, सरल है, आकर्षक है, श्रेय का मार्ग कठिन–दुर्गम।

भर्तृहरि की दृष्टि में श्रेय में प्रवृत्ति दो ही स्थितियों में हो सकती है, प्रथम पूर्वजन्म के संस्कारों तथा आत्मज्ञान के कारण। जन्म से ही विषय –वासनाओं से विरक्त पुरुष, जिनकी इनमें लेशमात्र भी रुचि नहीं है, वे कामिनियों के प्रति उसी प्रकार से निःस्पृह होते हैं, जैसे सरोजिनी चन्द्रमा के रमणीय होने पर भी उसके प्रति रुचि नहीं रखती –

रमणीयेऽपि सुधांशौ न मनःकामाः सरोजिन्या।[27]

किन्तु ऐसे धन्य युवा तो विरले ही होते हैं :–

धन्यः कोऽपि न विक्रियां कलयति प्राप्ते नवे यौवने।[28]

द्वितीय स्थिति है, विषयोपभोग के पश्चात् उनकी अनित्यता का बोध होने पर, विवेक रूपी अञ्जन से अज्ञान–तिमिर के छट जाने के बाद, श्रेय में प्रवृत्ति –

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिरसंस्कारजनितम्
तदा सर्वं नारीमयमिदमशेषं जगदभूत्।
इदानीमस्माकं पटुतरविवेकाञ्जनदृशाम्,

समीभूतादृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म मनुते ।।[29]

जगत् को नारीमय देखने वाली दृष्टि ब्रह्ममय कैसे हो, विवेक रूपी अञ्जन कहाँ से प्राप्त हो, इसी के लिए है – श्रृङ्गार और वैराग्य का मध्यबिन्दु ''नीति शतक''।

क्योंकि आत्म विषयक अज्ञान ही समस्त विकृतियों का कारण है, अतः नीतिशतक के प्रारंभ में है – ''अज्ञनिन्दा'' और ''विद्वत्प्रशंसा''। इसी संदर्भ में उन विशिष्ट गुणों, धर्मों मूल्यों और उपलब्धियों का उल्लेख है, जो मनुष्य की पशुजनोचित प्रवृत्तियों का संस्कार कर, उसे एक शिष्ट सुसंस्कृत मानव बनाते हैं, जो सौहार्द्र, सौम्मनस्य और सामरस्यपूर्ण समाज का निर्माण करते हैं, जो किसी भी राष्ट्र की संस्कृति को महान् बनाते हैं, अर्थात् साहित्य–संगीत शिल्प आदि मानव की शिवतम उपलब्धियाँ –

'साहित्यसंङ्गीत कला विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।'[30]

कहने में भर्तृहरि को कोई संकोच नहीं हुआ है।

आत्मा का संस्कार करने में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका कला या शिल्प की मानी गई है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है –

आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानिच्छन्दोमयं वा एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते।[31]

इसके साथ ही है, कुछ मानवीय धर्म और जीवन मूल्य, जिनके बिना मनुष्य इस पृथ्वी पर मनुष्य रूप में भारभूत पशु ही है

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुविभारभूताः मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ।।[32]

जीवन के अंतिम लक्ष्य मोक्ष के लिए आवश्यक वैराग्य की मनःस्थिति में पहुँचने के लिए पहली शर्त है, काम आदि मूलप्रवृत्तियों का संस्कार – स्त्रीविषयक रति की मानवमात्र के प्रति प्रेम में परिणति। इसी से संभव होगा कामजन्य मोह के विनाश के साथ उस विश्वसृष्टा के प्रति रति की अनुभूति, जैसा कि स्वचित्त को संबोधित करते हुए कवि कहते हैं –

मोहं मार्जय तामुपार्जय रतिं चन्द्रार्द्धचूड़ामणौ।[33]

इसके लिए भर्तृहरि ने जो पथ सुझाया है, वह है –

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यम्।
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम्।
तृष्णास्रोतोविभङ्ग गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा,
सामान्यं सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ।।[34]

अर्थात् अहिंसा, अस्तेय, सत्य, दान, दम, शम, विनय, दया आदि धर्म के वे आधार मूल तत्त्व जो सभी शास्त्रों में 'श्रेयस्' के साधक कहे गये हैं।

इनके अभ्यास से, इन्हें स्वआचरण का अंग बना लेने से मन निर्मल और अनासक्त होता है। स्वार्थवृत्ति परार्थ में परिवर्तित होती है। तब शरीर को सुसज्जित करने के लिए बाह्य आभूषणों की आवश्यकता नहीं रह जाती –

विभाति कायः करुणापराणां परोपकारेण न तु चन्दनेन।[35]

यहाँ भूमा ही सुख होता है 'भूमैव सुखम्' स्व या अल्प नहीं।

भर्तृहरि ने अपने नीतिशतक के माध्यम से मानवमात्र के लिए एक आदर्श आचार संहिता प्रस्तुत की, जिसके अनुपालन से सामान्य मनुष्य भी सर्वजन वन्द्य हो सकता है। इस आचार संहिता में है –

मानव जीवन को सार्थक बनाने वाले छोट–छोटे सहज सूत्र, जैसे कि आकाँक्षा – सज्जनों के साथ संगम की, प्रीति–परगुण में, विनम्रता – गुरुजनों के प्रति, व्यसन– विद्या में, रति – अपनी पत्नी में, भय– लोकनिन्दा से, भक्ति – भगवान शिव में और शक्ति – आत्मनिग्रह में –

एते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेम्यो नरेभ्यो नमः।[36]

यही मानव धर्म है, यही सदाचार। यही कर्म है और यही तप। जो मनुष्य इस कर्मभूमि में जन्म लेकर भी इस प्रकार तप नहीं करता, वह अभागा ईश्वर की इस सर्वश्रेष्ठ कृति का अपमान करता है, इस दुर्लभ मानव जीवन को व्यर्थ ही गँवा देता है, वह मानो वैदूर्य मणि के पात्र में, चन्दन की लकड़ी जलाकर लहसुन को पकाता है –

स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां पचति च लशुनं चान्दनैरिन्धनाद्यैः,
प्राप्येमां कर्मभूमिं चरति न मनुजो यस्तपोमन्दभाग्यः॥[37]

इस प्रकार सत्संगति, सदाचार और शास्त्रज्ञान से अविद्याजन्य अज्ञान, कामजन्य मोह दूर होकर वह विवेक, अर्थात् सद् असद् को पृथक् करने की शक्ति जाग्रत होती है जो मनुष्य के मन में उठने वाली तृष्णा की तरङ्गों को शान्त कर देती है –

विवेकव्याकोशे विदधति शमे शाम्यति तृषा।[38]

तब होता है इस सत्य का बोध, –

भोगा न भुक्ताः वयमेव भुक्ता : ....
कालो न यातो वयमेव याता –
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।[39]

इसके साथ ही आता है संसार के प्रति निर्वेद या वैराग्य, समय रहते जिनमें यह बोध नहीं जागता उनके लिए केवल पश्चाताप ही शेष रह जाता है। अतः बुद्धिमानों के लिए भर्तृहरि का यही संदेश है कि संसार और सांसारिक सुख भोगों की नश्वरता को जानकर योग समाधि द्वारा उस 'चिरन्तन' को प्राप्त करने में अपने चित्त को एकाग्र करें जो कभी समाप्त नहीं होता –

भोगाः मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनी चञ्चला,
आयुर्वायुविघट्टिता ग्रपटली लीनाम्बुदवद् भङ्ग गुरम्।
लोलायौवन लालसास्तनुभृतामित्याकल्य द्रुतम्
योगे धैर्य समाधि सिद्धसुलभे बुद्धिं विदध्वं बुधाः॥[40]

सांसारिक आनन्द, जिसके पीछे दौड़ते हुए मनुष्य अपने संपूर्ण जीवन को समाप्त कर देता है, वह तो मेघों के मध्य कौंधती हुई विद्युत् के समान क्षणिक है, मनुष्य की जीवन अवधि तभी तक है, जब तक मृत्यु रूपी आँधी मेघों को छिन्न–भिन्न नहीं कर देती है। महान् सम्राट, उनका साम्राज्य, सामन्त वर्ग, – ऐश्वर्य और वैभव सभी कुछ काल के प्रभाव

से स्मृतिशेष रह गये, तब हे मनुष्य। उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करो जो चिरन्तन है, ध्रुव है, निर्भय है –

सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां शम्भोः पदं निर्भयम्।[41]

जो अशेष दुःखशामक, श्रेय का मार्ग,[42] **नव–बन्धन से मुक्ति देने वाला**[43] अपनी ही आत्मा में अवस्थित सच्चिदानन्द ब्रह्म है –

विमलं .... आत्मनीनं तद् ब्रह्म ....।[44]

इस 'परम आत्मानन्द' की अवस्था में पहुँचने के बाद श्रुति–स्मृति आदि शास्त्र, यज्ञ–तप आदि कर्म उसी प्रकार निष्प्रयोजन हो जाते हैं जिस प्रकार शिखर पर पहुँचने के पश्चात् सोपान –

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः,
स्वर्गग्राम कुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः। ...
स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषाः वणिग्वृत्तयः॥[45]

हमारे उपनिषद् भी यही कहते हैं –

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन।[46]

गीता में, भगवान् कृष्ण का भी यही अभिमत है –

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया॥
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥[47]

वस्तुतः ये सब क्रमशः निम्न धरातल से उच्चतम तक पहुँचने के साधन हैं, साध्य नहीं। सोपान हैं, गन्तव्य नहीं। ये फल को रसमय परिपाक तक पहुँचाने के लिए, बीज के अंकुरण हेतु, भूमि को सक्षम और उर्वर बनाने की क्रिया है । ये उस वैराग्य के जनक हैं, जिसके जन्म से भोगी, योगी और मनुष्य मुनि हो जाता है, जिसके लिए यह धरती ही रम्य शैय्या होती है, बाहुलता उपधान, आकाश वितान, चन्द्रमा, दीपक और विरति ही प्रिया और वह –

सुखं शान्तः शेते मुनिरतुलभूपतिर्नृप इव।[48]

सुख– दुःख, मान–अपमान, शीत– उष्ण सभी उसके लिए समान हो जाते हैं ।

भर्तृहरि के ये तीन शतक समन्वित रूप से एक समग्र जीवन दर्शन हैं। वेद, आरण्यक और उपनिषद् जिस प्रकार वैदिक वाङ् मय के उत्तरोत्तर विकसित तीन स्तर हैं, उसी प्रकार शृंङ्गार, नीति और वैराग्य मानव की जीवन यात्रा के व्यक्तित्व के क्रमशः विकसित तीन सोपान हैं , जिन पर आरोहण करता हुआ मरणधर्मा मानव शरीर, प्राण, मन और बुद्धि के आनन्द के पश्चात् 'आत्मिक आनन्द' मोक्ष रूप परमानन्द को प्राप्त कर अमृत हो जाता है। श्रुति कहती है–

उद्यानं ते पुरुष नावयानम्।[49]
''हे पुरुष ! तुम्हारा उत्थान हो, पतन नहीं ।''
दिवं च रोह पृथिवीं च रोह।[50]

''आत्मिक उन्नति द्वारा द्युलोक तक पहुँचो, कर्ममय जीवन द्वारा पृथिवी की ऊँचाइयों पर पहुँचो।

भर्तृहरि के शतक मानव के इस उत्–यान की ही काव्यमयी अभिव्यक्ति है। शृंङ्गार शतक प्रतिनिधि है, उस प्रेय का जो मंत्रब्राह्मणात्मक वेदों का काम्य और प्रतिपाद्य है, धन–धान्य, रयि–द्रविण, स्त्री–पुत्र, कीर्ति–प्रतिष्ठा, वित्तेषणा और

लोकैषणा, जो जीवन के प्रति आशा, उत्साह और ऊर्जा से भरे हुए वैदिक आर्यों का अभीष्ट रहा है, जो सौ वर्ष की आयु को समुचित आश्रमों में विभक्त कर मर्यादित ढंग से शरीर धर्म का पालन करते हैं। जहाँ काम हेय या निन्द्य नहीं है, यही कारण है कि ऋग्वेद के स्वनामधन्य ऋषि अगस्त्य कहते हैं –

नदस्य मा रुधतः काम आगन्।[51]

''काम का आवेग नद के उस प्रबल प्रवाह की भाँति हैं, जिसका अवरोध संभव नहीं है।''

सृष्टि–बीज की इस अनुल्लंघनीयता को रेखांकित करते हुए अगस्त्यपत्नी लोपामुद्रा कहती है –

ये चिद्धि पूर्व ऋतसाप आसन्साकं देवेभिरवदन्नृतानि।

ते चिद् वासुर्नहयन्तमापुः समू न पत्नीर्वृषभिर्जगभ्युः॥[52]

''ऋत के अन्वेषक, देवसखा ऋषि भी काम के पार नहीं जा पाये हैं, उन्होंने भी अपनी पत्नियों के साथ अभिगम किया है।''

नीतिशतक उन मानवीय धर्मों का कान्तासम्मित उपदेश करता है जो सूत्ररूप में वेदों में, व्याख्यान रूप में ब्राह्मण ग्रंथों में, प्रतीक रूप में उपनिषदों में तथा मुमुक्षु की प्राथमिक तैयारी के रूप में उपनिषदों में बहुधा चर्चित हुए हैं। जो स्मृतियों के आधार रहे हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रजापति द्वारा अपनी त्रिविध सन्तानों को दी गई शिक्षा – 'द–द–द,' दाम्यत–दत्त–[53]दयध्वम्', दम–दान–दया, भर्तृहरि प्रतिपादित मानवीय धर्म ही हैं।

वैराग्य शतक में उस बीज का पल्लवन है, जो मनुष्य को भारतीय संस्कृति में मान्य अंतिम पुरुषार्थ ''मोक्ष'' तक ले जाता है, जो उसको जानने पर बल देता है। जिसको जान लेने पर जानने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता, जिसको पा लेने पर समस्त तृष्णायें शान्त हो जाती हैं। वह जीवन मुक्ति, भव–बन्ध–मुक्ति, वह आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द ही वैराग्य शतक का प्रतिपाद्य है। अंत में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भर्तृहरि भारत की उस महान् संस्कृति के प्रवक्ता हैं जो जीवन में समन्वय, कर्ममय श्रेष्ठ जीवन और क्रमिक उत्थान पर बल देती है, जो कहती है –

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥[54]

भर्तृहरि अपनी कृति रूप 'सुकृत' से अमृत हुये हैं –

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः।

नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥[55]

उपनिषद् सत्य ही कहते हैं – **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचन।**[56]

संदर्भ–संङ्केत

1. वैराग्य शतक – 2
2. नीतिशतक – 21
3. वैराग्यशतक – 26
4. शृंङ्गारशतक – 1
5. ऋग्वेद – 10.129.4

6. कामसूत्र – 1.1.1
7. बृहदारण्यकोपनिषद् – 1.4.3
8. शतपथब्राह्मण – 14.4.2.5
9. शिवपुराण
10. शृंङ्गारशतक – 2
11. शृंङ्गारशतक – 5
12. शृंङ्गारशतक - 14
13. शृंङ्गारशतक - 15
14. कामसूत्र – 1.2.11
15. शृंङ्गारशतक - 7
16. शृंङ्गारशतक - 24
17. शृंङ्गारशतक - 17
18. शृंङ्गारशतक - 26
19. शृंङ्गारशतक - 29
20. कामसूत्र – 1.2.1, 3, 4
21. तैत्तरीयोपनिषद् – 1.11.1
22. भगवद्गीता – 10.28
23. शृंङ्गारशतक - 58
24. शृंङ्गारशतक – 65

25A वैराग्यशतक – 38

25B शृंङ्गारशतक – 18

26. शृंङ्गारशतक - 19
27. शृंङ्गारशतक - 100
28. शृंङ्गारशतक - 71
29. शृंङ्गारशतक - 98
30. नीतिशतक – 12
31. ऐतरेयब्राह्मण – 6.5.1.3
32. नीतिशतक – 13
33. वैराग्यशतक – 57
34. नीतिशतक – 26
35. नीतिशतक – 71
36. नीतिशतक – 61
37. नीतिशतक – 100
38. वैराग्यशतक – 17
39. वैराग्यशतक – 12
40. वैराग्यशतक – 51
41. वैराग्यशतक – 33
42. वैराग्यशतक – 55

43. वैराग्यशतक – 54
44. वैराग्यशतक – 72
45. वैराग्यशतक – 75
46. मुण्डकोपनिषद् – 3.2
47. भगवद्गीता – 11.53
48. वैराग्यशतक – 68
49. अथर्ववेद – 8.1.6
50. अथर्ववेद – 13.1.34
51. ऋग्वेद – 1.179.4
52. ऋग्वेद – 1.179.2
53. बृहदारण्यकोपनिषद् – 5.2.1-3
54. ईशोपनिषद् – 11
55. नीतिशतक – 24
56. तैत्तरीयोपनिषद् – 2.4

देवदत्ता

भगवतीलाल राजपुरोहित

देवदत्ता संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य के समय उज्जैन की सुप्रसिद्ध सुन्दरी गणिकी थी। चतुर्भाणी के शूद्रक के पद्मप्राभृतक भाण में उल्लेख हैं कि यह मूलदेव की प्रेमिका थी। मूलदेव विक्रमादित्य की सभा का धूर्त था। प्राकृत संस्कृत में मूलदेव सम्बन्धी अनेक कहानियों से प्राचीन साहित्य भरा हुआ है। इस मूलदेव के सिक्के, सील ,पात्रों , पर नाम भी ईसवी पूर्व की ब्राह्मी लिपि मे अंकित प्राप्त होते हैं । स्वयंभू छन्दस् में मूलदेव की कविताएँ उद्धृत हैं। यह परम कलाविद् था। दण्डी की अवन्ति सुन्दरी कथा के अनुसार मूलदेव ने देवदत्ता आख्यायिका लिखी थी। राजा भोज की शृंगारमंजरी कथा में मूलदेव की एक एवं देवदत्ता सम्बन्धी दो कहाँनियाँ प्राप्त होती हैं। वररुचि की उभयाभिसारिका भाण के अनुसार देवदत्ता को पाटलिपुत्र में पुरन्दरविजय नामक संगीतक में अभिनय के लिए गयी थी।

पतंजलि के महाभाष्य मे समकालीन सन्दर्भ प्रामाणिक मानें जातें हैं। उसने पुष्यमित्र के यज्ञ समपन्न करवाये थे । पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ की पुष्टि मालविकाग्निमित्र नारु और धनदेव के अयोध्या शिलालेख से भी होती हैं। लेख में उसे दो अश्वमेधकर्ता बताया गया है।

पतंजलि अपने महाभाष्य (2/1/3) में चन्द्रमुखी देवदत्ता तथा श्यामा देवदत्ता का उल्लेख करता है।

1. चन्द्रमुखी देवदत्ता इति बहवश्चन्द्रे गुणा:। या चासौ प्रियदर्शनता सा गम्यते।

2. शस्त्रीश्यामा। क्रपुनरयं श्यामाशब्दो वर्तते। केन तर्हीदानीं देवदत्ता भिधीयते।

---एवं तर्हि शस्त्र्यामेव शस्त्रीशब्दो देवदत्तायां श्यामा शब्द:। --- शस्त्रीव श्यामा देवदत्तेति। ---यथा शस्त्री श्यामा तद्वदियं देवदत्तेति। एवमपि देवदत्तायां श्यामेत्येतदपेक्ष्यं स्यात्। ---बहवश्च शस्त्र्यां गुणा: तीक्ष्णा सूक्ष्मा पृथुरिति। ----तद्यथा चन्द्रमुखी देवदत्तेति बहवश्चन्द्रै गुणा: । या चासौ प्रियदर्शनता सा गम्यते । -- उभयन्नैवात्र श्यामत्वमस्ति शस्त्र्यां देवदत्तायां च।

भर्तृहरि के वाक्यपदीय (3/421-22) में भी इन बातों की पुष्टी की गई हैं। भृतहरि ने श्यामा शस्त्री के स मान (देवदत्ता) की चर्चा महाभाष्य के अनुसार ही की है। टीकाकार हेलाराज (422-23) में भी कहा है।-

श्यामा शास्त्री यथा तथेयं देवदत्ता श्यामा । --- या श्यामागुणो पलक्षिता शस्त्री सा धर्मान्तरेणापि तथाभूताया: देवदत्ताया: परिच्छेदि का।

परम सुन्दरी देवदत्ता श्यामा थी। वह प्रियदर्शना थी। अपने युग में देवदत्ता परम सुन्दरी मानी जाती थी। वह सुन्दरियों में भी परम सुन्दरी थी। उसकी सुन्दरता की ख्याति सर्वत्र थी। इसीलिए पतंजलि ने उसे बार बार, प्राय: आठ बार अपने महाभाष्य में नामत: उदधृत किया।

अत: पतंजलि चन्द्रमुखी देवदत्ता की सलोनी सुन्दरता पर मुग्ध थे। देवदत्ता चन्द्रमुखी तो थी ही परन्तु श्यामा (सलोनी)छूरी भी थी जो हर रसिक को घायल कर देती थी। पतंजलि भी उसमें बच नहीं पाए। विक्रमादित्य की वह राजगणिका थी।

मूलदेव की तो और देवदत्ता का परस्पर लगाव तो साहित्य में भी अंकित है। मूलदेव तो देवदत्ता से इतना प्रभावित था कि उसने देवदत्ता आख्यायिका ही रच दी थी। फिर महाकवि कालिदास कैसे पीछे रह सकते हैं। मेघदूत की यक्षी की सुन्दरता वर्णन करते हुए कवि के सामने श्यामा देवदत्ता की ही छवि थी। देवदत्ता अपने युग में श्यामा के नाम से भी प्रसिद्ध थी। इसीलिए पतंजलि ने उस अपने समय के प्रचलित नाम को देवदत्ता का विशेषण बनाकर उसकी विस्तृत व्याख्या की। उस श्यामा नाम का यक्षी के विशेषण के रुप में कालिदास ने उपयोग करते हुए यक्षी के बहाने देवदत्ता की सुन्दरता का सरस बखान कर दिया है।

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकित हरिणी प्रेक्षणा निम्नाभि:।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातु:।।

नायिका श्यामा छरहरी, तीखे दांत, पके बिम्ब जैसे (लाल)ओठों, पतली कमर, हिरनी जैसी चंचल नैना, गहरी नाभि, भारी नितम्ब से चलने मे धीमी, स्तनों से कुछ झुकी हुई। युवतियों में तो मानों विधाता की पहली (चना) अर्थात् युवतियों में प्रथम (नम्बर वन)। अमरकोश नें - श्यामा स्याच्छाखि निशा (3/3/143) कहा है। रात्रि और साल (चावल) का एक प्रकार अर्थ है। परवर्ती ग्रन्थों में श्यामा नायिका की अनेक विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। जो सब बाद की कल्पनाएँ है। पतंजलि और कालिदास तो उसे सलोनी ही मानते रहे। शस्त्री या रात जैसी। शाकुन्तल की सृष्टि: स्रष्टुराद्या भी वही है। विधाता की रचना पहली। भट्टिकाव्य (5/18और 8/100) की टीका में उद्धृत एक श्लोक में कहा गया हैं कि शीत में सुखद ऊष्ण, ग्रीष्म में सुखद शीतल, और तप कांचन सी कांति वाली स्त्री श्यामा होती है। या शीते सुखोष्णसर्वांगी ग्रीष्में या सुखशीलता। तप्तकांचनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कष्टयते॥ परन्तु पतंजलि की दृष्टि में तो एक ही सामान्य अर्थ था - शास्त्रीय श्यामा - छुरी सा सलोनी। और कालिदास भी उसी (सलोनी कटार) सी सलोनी देवदत्ता की याद को अंकित कर रहा है।

भर्तृहरि के शतकत्रय में मानवीय मूल्य - दर्शन

डॉ. बालकृष्ण शर्मा

मानव विधाता की सर्वोत्कृष्ट र चना है- **न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ।** इसका आशय यह हुआ कि मानव - जीवन सर्वाधिक मूल्यवान है। व्युत्पत्तिपरक दृष्टि से देखा जाए , तो मूल्य शब्द 'मूल्' धातु से यत् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। भ्वादिगणक मूल् धातु प्रतिष्ठार्थक है।- मूल प्रतिष्ठायाम्। पाणिनीय सूत्र -

नौवयोधर्मविषमूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्यप्राप्यवध्यानाम्यसमसमितसम्मितेषु (4.4.91) से **मूलेन आनाम्यं मूल्यम्** अर्थ प्राप्त होता है। तात्पर्यत: किसी द्रव्य की लागत में जुडा हुआ 'लाभांश' मूल्य है। सामान्य रूप से लोक व्यवहार में जिस राशि के बदले कोई वस्तु खरादी जाती है , उसके लिए मूल्य शब्द व्यवहृत होता है। वहाँ लाभमात्र में व्युत्पादित मूल्य शब्द की तद् घटित संघात में निरूढलक्षणा जाननी चाहिए। अमरकोशकार ने विक्रेय वस्तुओं की कीमत के तीन पर्यायों में 'मूल्य' शब्द का परिगणन किया है - **मूल्यं वरन्योप्यवक्रय:** (अमर .2.9.79) अमरकोश में मूल्य का एक अन्य अर्थ - 'वेतन' भी किया गया है जो प्रासङि.गक न होते हुए भी ज्ञेय अवश्य है -

कर्मण्या तु विधाभृत्याभृतयो भर्म वेतनम्।

भरण्यं भरणं मूल्यं निर्वे श: पण इत्यपि ॥[1]

विवेच्य सन्दर्भ में मूल्य शब्द से उन तत्त्वों का अभिप्राय ग्रहण करना समीचीन होगा , जो जीवन को लाभान्वित करते हैं , उसे प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं और वास्तविक अर्थों मे श्रेष्ठतर - सर्वाधिक मूल्यवान् बनाते हैं ।

मानवीय मूल्य देश -काल की सीमा से परे हैं। मनुष्य के प ास बुद्धिबल का वैशिष्ट्य है, जिससे वह अपना और संसार का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहता है।वह केवल वर्तमान के विषय में ही नहीं सोचता, अपितु भविष्य के परिणामों का भी चिन्तन करता है। मनुष्य, अपनी अपनी बुद्धि की सहायता से युक्तिपूर्वक तत्त्व- ज्ञान प्राप्त करने का जो प्रयत्न करता है, वही 'दर्शन ' है। मानव क्या है ? उसके जीवन का लक्ष्य क्या है ? संसार क्या है ? मनुष्य को किस प्रकार का जीवन व्यतीत करना चाहिए ? ये सारे प्रश्न दार्शनिक परिधि मे आते हैं ।

\+ + + +

भारतीय मनीषा ने **यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे** की मान्यता के परिप्रेक्ष्य में व्यष्टि और समष्टि दोनों को एकाकार करते हुए द्वैत में अद्वैत के अद्वितीय चिन्तन को प्रशस्त किया है। संस्कृत वाड्.मय का विराट् प्रासाद जीवन के प्रयोजनभूत पुरुषार्थचतुष्टय के सुदृढ स्तम्भों का आधार लिए हुए है। मोक्ष , व्यष्टि तथा पृथकत्व का सम्पूर्ण अतिक्रमण एवं समष्टि का चरमोत्कर्ष है, जिसका स्वरूप इच्छारहित होना अर्थात् समग्र पूर्णता है। शारीरिक, भौतिक किं वा सांसारिक कामनाओ की तृप्ति काम है। इन भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए अर्थ द्वारा नियन्त्रित होना चाहिए।

भर्तृहरि ने अपने शतकत्रय में मानव जीवन के अनुभवों का तत्त्व - दर्शन अत्यन्त सहजता से प्रस्तुत किया है। वे जानते हैं कि इस संसार में कोई मनुष्य वैराग्य - मार्ग का पथिक है, कोइ नीति में भ्रमण करता है, तो कोई शृंगार में रमता है, क्योकि सबकी रुचियाँ भिन्न होती हैं -

वैराग्यं संश्रयत्येको नीतौ भ्रमति चापर:।

शृंगारे रमते कश्चिद् रुचिभेद : परस्परम्।।[2]

इन तीनों शतकों में पुरुषार्थचतुष्टय अर्थात् धर्म , अर्थ , काम , और मोक्ष के विषय में भर्तृहरि ने अपने विचार व्यक्त किए हैं । संसार की नश्वरता एवं निस्सारता और अज्ञान के स्वरूप पर चिन्तन के साथ ही शतकत्रय में मनुष्यों के लिए करणीय कर्म की महिमा को भी रेखांकित किया गया है।

भर्तृहरि कहते हैं कि प्रतिदिन सूर्य के उदय और अस्त के साथ ही मानव की आयु का क्षय होता जाता है , अनेक कार्यों में उलझकर समय कब बीत गया यह ज्ञात नहीं होता , जन्म , बुढापा , विपत्ति और मरण को देखकर भी किसी को भय नहीं होता , इसलिए लगता है कि यह सारा संसार अज्ञानमयी प्रमादरूपी मदिरा को पीकर उन्मत्त हो गया है -

आदित्यस्य गतागतैरहरह: संक्षीयते जीवितं

व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभि: कालो न विज्ञायते।

दृष्टवा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते

पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।।[3]

जीवन की अल्पता को और भी अधिक व्यावहारिक धरातल पर देखते हुए भर्तृहरि प्रश्न उपस्थापित करते हैं -

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतं

तस्यार्धस्य परस्य चार्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयो:।

शेषं व्याधिवियोगदु : खसहितं सेवादिभिर्नीयते

जीवे वारितरङ्ग चंचलतरे सौख्यं कुत: प्राणिनाम्।।[4]

अर्थात् मनुष्य की पूर्ण आयु 100 वर्षों तक सीमित है। उसमें से आधी आयु 50 वर्ष सोने में बीत जाती है। शेष 50 वर्ष में से आधे 25 वर्ष बचपन और बुढापे में बीत जाते हैं। शेष बचे 25 वर्ष बीमारी , अपने आत्मीय जनों के वियोग आदि दु:ख में और जीविकोपार्जन के लिए सेवा में बीत जाती है । तब जल की तंरग के समान चंचल जीवन में प्राणी को सुख मिलने का अवसर कहाँ है ?

पुरुषार्थचतुष्टय का मूलाधार धर्म है जो लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय के स ाथ ही नि:श्रेयस की सिद्धि का साधन है - **यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:।**

धर्म ही मानव को अन्य प्राणियों से विशिष्ट वनाता है क्योकि धर्म विहीन मनुष्य तो पशुतुल्य ही है -

आहारनिद्राभयमैथुनञ्ज सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम् ।

धर्मो हि तेषामधिको विशेष: धर्मेण हीना: पशुभि : समाना: ।।[5]

भर्तृहरि की स्पष्ट मान्यता है कि इस संसार में धन - सम्पत्ति प्राण, जीवन, यौवन, सब कुछ चंचल है, केवल धर्म ही निश्चल है -

चला लक्ष्मीश्चला: प्राणाश्चलं जीवितयौवनम्।

चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चल : ।।[6]

धर्मानुकूल आचरण को जीवन - मूल्य का उत्कर्ष कहना अत्युक्ति न होगी। इस सन्दर्भ में धर्म का अभिप्राय हमारे लिए और भी जिज्ञास्य बन जाता है। भगवान् मनु ने धर्म के दस लक्षण इस प्रकार परिगणित किए हैं -

धृति: क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह: ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोध: दशकं धर्मलक्षणम् ।।[7]

किन्तु फिर भी धर्म का तत्व गुहानिहित है , अत्यन्त गूढ ; क्योकि धर्म के स्वरूप - निर्णय में मत - मतान्तर हैं , विचारों का ऐकमत्य नहीं । तब , सज्ञनों द्वारा स्वीकृत मार्ग ही अनुगमनीय - धर्म - है।

श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयोऽपि भिन्ना

नैको मुनिर्यस्य वच: प्रमाणम् ।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां

महाजनो येन गत: स पन्था: ।।[8]

कहा गया है - धर्म का रहस्य सुनो और सुन कर ह्रदय में धारण करो । जो तुम्हें स्वयं के लिए अच्छा न लगता हो , ऐसा आचरण दूसरों के प्रति मत करो -

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।

आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।।

श्रेष्ठ आचार का यह सुन्दरतम दौर सरलतम निदर्शन है । वर्तमान युग की सबसे बडी समस्या यही तो है कि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने हित को सोचता है , अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए दूसरों के प्रतिकूल आचरण में उसे कोई संकोच नही । ऐसी स्थिती में संस्कृत वाड्.मय का यह सूक्ति रत्न समग्र पौराणिक चिन्तन का नवनीत इन शब्दो में प्रस्तुत करता हैं -

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।

परोपकार: पुण्याय पापाय परपीडनम् ।।

परोपकार और स्वार्थ की मानवीय भावनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए महाराजा भर्तृहरि मनुष्यों की चार श्रेणियाँ निर्धारित कर देते हैं । कुछ सत्पुरुष हैं जो स्वार्थ - त्याग के मू ल्य पर भी परोपकार संलग्न रहते है । कुछ सामान्यजन हैं जो स्वार्थ का विरोध न करते हुए परार्थ के लिए प्रयत्नशील रहते हैं । वे मानव राक्षस तुल्य हैं जो स्वार्थ के लिए दूसरों का हित बाधित करते हैं, और जो लोग बिना किसी प्रयोजन के परहित का विनाश करते है , उन्हे क्या कहा जाए ?

एके सत्पुरुषा: परार्थघटका: स्वार्थं परित्यज्य ये

सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृत: स्वार्थाविरोधेन ये ।

तेऽमी मानुषराक्षसा: परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये

ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ।।[9]

धर्म को पुरुषार्थ का सारभूत तत्त्व मानने की चर्चा पहले की जा चुकी है । अर्थ और काम की पुरुषार्थता भी तभी सार्थक बनती है , जब वे धर्मविरुद्ध न हों । भगवान श्री कृष्णने कहा है कि मैं समस्त प्राणियों में धर्माविरुद्ध काम हूँ -

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।।[10]

अर्थप्राप्ति के लिए दूसरों के धन का लालच न करने और त्यागपूर्वक उपभोग के लिए ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र का सनातन सन्देश अविस्मणीय है –

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा: मा गृध: कस्य स्विद्धनम् ।।[11]

वर्तमान में जीवन – मूल्यों के ह्रास का सबसे बडा कारण अर्थार्जन में शुचिता का अभाव हैं। संस्कृत वाड्.मय का सन्देश तो यह है कि कोई व्यक्ति स्नानादि से ही पवित्र नहीं हो जाता, अर्थ की शुचिता सर्वोपरि है –

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।

योऽर्थे शुचिर्हिस शुचिर्न मृद्वारिशुचि: शुचि: ।।[12]

आवश्यकता से अधिक अर्थ एकत्र करने की लिप्सा अनेक अनर्थों का मूल है। श्रीमद्भागवत का स्पष्ट कथन है कि जितने से मनुष्य का पेट भरता हो , उतने पर ही उसका अधिकार है। इससे अधिक पाने की इच्छा करने वाला , दण्ड का पात्र है

यावद भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।

अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ।।[13]

'येन केन प्रकारेण ' अर्थसंग्रह की दौड़ में लगे मानव के लिए आवश्यक है कि वह सन्तोष का अमृत – पान करे , तभी उसे शान्ति का अनुभव हो सकेगा –

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।

कुतस्तद् धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ।।[14]

मन की यही शान्ति समस्त शास्त्रों का चरम लक्ष्य है। कहा भी गया है –

शान्त्यर्थं सर्वशास्त्राणि विहितानि मनीषिभि:।

ज्ञेय: स सर्वशास्त्रज्ञो यस्य शान्तं मन: सदा ।।

भर्तृहरि ने सूत्रात्मक शैली में इस चिन्तन का सार प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जो अकिंचन है अर्थात् किसी भी प्रकार के धन में ममत्वबुद्धि से रहित है , जितेन्द्रिय है , शान्त है, सभी में समबुद्धि रखने वाला है और जिसका मन सदैव सन्तुष्ट रहता है , उसके लिए सारी दिशाएँ आनन्द प्रदान करने वाली हैं –

अकिंचनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतस:।

मया संतुष्टमनस: सर्वा: सुखमया दिश: ।।[15]

सुख और दु:ख जैसे परस्पर विरोधी अनुभवो में समभाव रखने की योग्यता ही मनुष्य को गीता के स्थितप्रज्ञ की श्रेणी में स्थापित कर सकती है। भर्तृहरि ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है कि किसी कार्यसिद्धि में संलग्न मनीषी सुख और दु:ख की गणना नहीं किया करता है। कभी तो वह बिछौना न मिलने पर भूमि पर ही सो जाता है , कभी उपलब्ध होने पर सुखद शय्या पर विश्राम करता कभी शाक – पात खा कर ही पेट भर लिया करता है तो कभी स्वादिष्ट भोजन करता है , कभी फटे व स्त्र पहनता है तो कभी दिव्य वस्त्र धारण कर लेता है –

क्वचिद् भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यंकशयनं
क्वचिच्छाकाहार: क्वचिदपि च शाल्योदनरुचि:।
क्वचित् कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दु:खं न च सुखम्॥[16]

भर्तृहरि की मान्यता है कि जब तक काम रूपी अन्धकार से उत्पन्न अज्ञान रहता है, तब तक यह सारा जगत् नारीमय प्रतीत होता है , किन्तु जब विवेकरुपी अंजन लगाने से आँख खुल जाती है , तब समदृष्टि उत्पन्न होती है , जिससे सारा त्रैलोक्य ब्रह्ममय दिखाई देने लगता है -

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिरसंस्कारजनितं
तदा दृष्टं नारीमयमिदमशेषं जगदपि।
इदानीमस्माकं पटुतरविवेकांजनजुषां
समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म तनुते॥

मानव शरीर पंचमहाभूतो से निर्मित है। मोक्ष प्राप्ति का परम उपाय होने के कारण ही इसे सुरदुर्लभ तनु कहा जाता है। भर्तृहरि पाँचो महाभूतों के प्रति कृतज्ञ - भाव से अन्तिम प्रणाम अर्पित करते हुए कहते हैं कि हे मात: पृथ्वी ! हे पितः वायु ! मित्र तेज ! सुबन्धु जल ! और हे मित्र आकाश ! मेरा करबद्ध अन्तिम प्रणाम स्वीकार करें। आप की संगाति के कारण उत्पन्न पुण्य के प्रभाव से मुझमें ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न हुआ है। इस प्रकाश से मोह का घना अन्धकार दूर हो गया है और अब मैं परब्रह्म में लीन होने जा रहा हूँ -

मातर्मेदिनि तात मारुत सखे तेज: सुबन्धो जल
भ्रातर्व्योम निबद्ध एष भवतामन्त्य: प्रणामांजलि:।
युष्मत्संगवशोपजातसुकृतोद्रेकस्फुरन्निर्मल–
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीए परब्रह्मणि॥

भर्तृहरि के शतकत्रय में प्रतिबिम्बित वैश्विक मानव - मूल्यों का दार्शनिक पक्ष अत्यन्त व्यापक है। स्थालीपुलाकन्याय से जिन सन्दर्भों का उल्लेख प्रस्तुत किया गया , उनसें भर्तृहरि के चिन्तन की सनातनता अनुभवगम्य है । जगत् की निस्सारता , पुरुषार्थ चतुष्टय की महत्ता और वैराग्य के मार्ग द्वारा मोक्ष की उपलब्धि भर्तृहरि के जीवन - दर्शन का सारभूत तत्त्व है।

- - - - - - - - - - - -

सन्दर्भ

1. अमरकोश , 2.10.38
2. शृंङ्गारशतक 87 , कौसंबी संस्करण के अनुसार ; संशयितश्लोक , 331
3. वैराग्यशतक , 7 , कौसंबी संस्करण के अनुसार , वैराग्यशतक , 4
4. वैराग्यशतक , 91 , कौसंबी संस्करण के अनुसार , वैराग्यशतक , 53

5. हितोपदेश , प्रस्ताविका , 25
6. वैराग्यशतक , 96 , कौसंबी संस्करण के अनुसार , संकीर्णश्लोक ,495
7. मनुस्मृति , 6. 92
8. महाभारत ,
9. नीतिशतक , कौसंबी संस्करण के अनुसार ,संशयितश्लोक,221
10. श्रीमद्भगवद्गीता , 7.11
11. ईशावास्योपनिषद् , 1
12. मनुस्मृति , 5.106
13. श्रीमद्भागवत ,
14. हितोपदेश , मित्रलाभ , 145
15. वैराग्यशतक , 95 , कौसंबी संस्करण के अनुसार , संकीर्णश्लोक , 353
16. नीतिशतक , 82 , कौसंबी संस्करण के अनुसार , नीतिश्लोक , 21
17. शृंगारशतक , 86 , कौसंबी संस्करण के अनुसार , अनिर्णी तस्थलश्लोक , 6
18. वैराग्यशतक , 74 , कौसंबी संस्करण के अनुसार , संशयितश्लोक , 301

निदेशक
सिन्धिया प्राच्य शोध संस्थान
उज्जैन

पाराशर तीर्थ के आधुनिक शिव मन्दिर की दीवार पर स्थापित खरोष्ठी अभिलेख

डॉ. जे. एन. दुबे

पाराशर तीर्थ नामक यह स्थल हरियाणा प्रदेश के कर्नाल जिले के अन्तर्गत ग्राम बहलोपुर मुश्तर्क के समीप यमुना नदी पर स्थित है। यहाँ एक पक्के सरोवर के निकट आधुनिक शिव मन्दिर की दीवार लाल वलुआ प्रस्तर खण्ड लगा हुआ है । यह प्रस्तर खण्ड अभिलेख किसी अन्य स्थल से लाकर यहाँ शिव मन्दिर की दीवार पर स्थापित किया गया है।

इस लाल वलुआ प्रस्तर खण्ड पर प्रथम सदी ई. का खरोष्ठी लिपि में लेख उत्कीर्ण है। इस प्रस्तर खण्ड पर यह लेख अपूर्ण है। इस लाल वलुआ प्रस्तर में से बालू कणों के निकल जाने के कारण इसमें कई स्थानों पर गोल छिद्रों के कारण खरोष्ठी लिपि के अक्षर समुचित रूप से दिखाई नहीं देते हैं। इस कारण इस प्रस्तर खण्ड पर उत्कीर्ण लेख का वाचन विशुद्ध रुप में नही हो सका है।

यह खरोष्ठी लिपि में उत्कीर्ण लेख छ: पँक्तियों में समाहित है। इस लेख की तीसरी पंक्ति बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें संवत् 100+ 10 +4+2 = 116 है। यदि इसे विक्रम संवत् ग्रहण करें तो यह 59 ई . का लेख है। इस लेख की हस्तलिखित प्रति संलग्न है। इस लेख की देवनागरी में वाचन निम्न लिखित है :-

कु अ ह त ह ध 1
बु ह शि त अ खु खु 2
दि ध बु 2+4+10+100 दो ह 3
र अ म न ते र ख शि 4
मो यि ख य अ त व ध 5
कु मे ए 6

संदर्भ :-

1. हिस्ट्री टुडे - जॅर्नल ऑफ हिस्ट्री एण्ड हिस्टोरिकल आर्क्यालॉजी - नंबर 15 , सन् 2014 , पृष्ठ 120 पर प्रकाशित तथा इस लेख का वाचन उसमें उपलब्ध नहीं है।

पाराशर तीर्थ आधुनिक शिव मंदिर की दीवार पर लाल - वलुआ प्रस्तर पर स्थित खरोष्ठी लेख ।

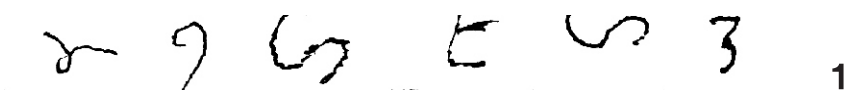

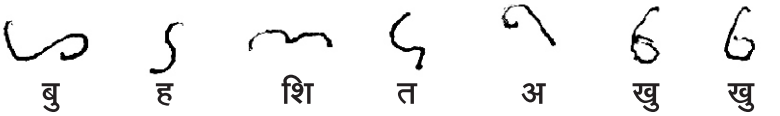

बु ह शि त अ खु खु 2

दि ध बु 2 4 10 100 दो ह 3

र अ म न ते र ख शि 4

मो दि ख य अ त व ध 5

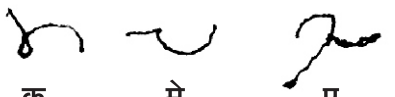

कु मे ए 6

महाकुमार त्रैलोक्यवर्मन का ताम्र - पत्र
संवत् 1207 (1151ई.)

डॉ. जे. एन. दुबे
डॉ. आर. सी. ठाकुर

श्री अश्विनी शोध संस्थान , महिदपुर के अध्यक्ष एवं प्रमुख डॉ . आर . सी . ठाकुर से इस ताम्रपत्र के दोनों पत्रों के छाया चित्र प्राप्त हुए।

पहले पत्र के नीचे व दूसरे पत्र के ऊपर दो-दो गड्ढे कड़ियों से बाँधने के हैं । प्रत्येक ताम्र - पत्र में 19:19 पंक्तियाँ हैं । इसके अक्षरों की बनावट 12वीं सदी की नागरी लिपि है। अक्षर गहरे खुदे हैं पर उनका लेखन स्पष्ट नहीं है। भाषा संस्कृत गद्य - पद्यमय है। इसकी तिथि विक्रम संवत् 1207 (1151 ई.) फाल्गुन माह की पूर्णिमा है।

इसका प्रमुख ध्येय महाकुमार त्रैलोक्यवर्मन द्वारा नीलगिरि मण्डल व नर्मदा नदी के तट पर स्थित भटपादक प्रति जागरण पश्चिम पथक से सम्बद्ध छिंदवाडा ग्राम छिबुदाड़क और अद्यड़ादद्रुक ग्राम की भूमि का दान ब्राह्मणों को प्रदान करना है। इस दूतक संधि विग्रहिक मनोवघ वर्णित हैं।

इस ताम्रपत्र के पूर्व महाकुमार त्रैलोक्यवर्मन का तिथि बिहीन ग्यारसपुर स्तम्भ अभिलेख तथा संवत् 1216 (1159ई.) का विदिशा से प्राप्त प्रस्तर खण्ड अभिलेख हैं। दोनो अभिलेख अपूर्ण हैं। इस ताम्र - पत्र अभिलेख में महाकुमार त्रैलोक्यवर्मन का श्रीमद् जयवर्म देव के चरण कमल के प्रसाद से प्राप्त स्वयं द्वारा शासन के अधिपत्य का उल्लेख है। जयवर्मन के दो पुत्र महाकुमार लक्ष्मीवर्मन् देव और त्रैलोक्यवर्मन थे। इस ताम्र पत्र पर उत्कीर्ण तिथि क्रम संवत् 1207(1151 ई.) से यह सुस्पष्ट प्रमाण प्राप्त होता है कि महाकुमार लक्ष्मीवर्मन् की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र हरिचन्द्र की अल्पवयस्कता के कारण त्रैलोक्यवर्मन उसका सरंक्षक नियुक्त हुआ। तथा उसके नाम से शासन - सूत्र संभालने लग गया। तत्पश्चात् जब हरिश्चन्द्र वयस्क हो गया तो उसको राजसिंहासन सौंप कर त्रैलोक्यवर्मन उसकी सहायता करने लगा। इसी कारण संवत् 1214 (1157 ई.) के भोपाल ताम्र - लेख में हरिश्चन्द्र राज्य की प्राप्ति हेतु त्रैलोक्यवर्मन् के प्रति आभार प्रदर्शित करता है।

दोनों ताम्र - पत्रों के वाचन में संशोधन डॉ . भगवती लाल राजपुरोहित जी द्वारा किया गया है।

महाकुमार त्रैलोक्यवर्मन का ताम्र पत्र संवत् 1207 (1151ई .)

प्रथम पत्र

1. ओं स्वस्ति श्री ज्जेयोभ्युदयश्च ॥ जयति व्योम केशोसेय: ससर्गा विभर्त्तितां ऐं द्वी शिर
2. सा लेखा जगद्बीजां कुरा कृतिं ॥ तन्वन्तु व स्मराराते: कल्याणम निशंजटा: । कल्पान्त सम
3. योद्दाम तडीद्वलय पिंगला: ॥ परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री उदयादित्य
4. देव पादानुध्यात परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री नरवर्म्मदेव पादानुध्यात परम
5. भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री यशोवर्म्मदेव पादानुध्यात परम भट्टारक महाराजा
6. धिराज परमेश्वर परम माहेश्वर श्री मज्जयवर्म्म देव पाद् पद्म प्रसादावाप्त निजाधिपत्ये सम

7. स्त प्रशस्तोपेत समधिगत पंच महाशब्दालंकार विराजमान महाकुमार श्री त्रैलोक्यवर्म्म देव
8. नीलगिरि मंडले श्री नर्मदा तरंगिणी अर्त्वाकूले पादक प्रति जागरण के पश्चिम पथक सं-
9. वद्ध छिवुदाडक ग्राम निवासिन: प्रति ग्राम निवासिनश्चराज पुरुष विषयिक पट्टकिल जनपदा-
10. दीन् ब्राह्मणोत्तरान्वोधयत्यस्तुव: संविदितम्॥ म्यदिह मयाञ्जछैडापद्र स्थितेन श्री मद्विक्रमका -
11. लातीत सप्तत्कै द्वादसाधिक शंताता: पाति संवत्सरे फाल्गुन मास्तिथि पूर्णिमाया संजात सोम ग्रहण पर्व्वणि
12. सक्रिये वीनित्यप्तीर्था भोभि: स्नात्वादयेधि दनुजेन्द्र निद्राहपिहरंहरि समभ्यर्च्य तिलान्नाज्याहु -
13. तिभि हिरण्यरेतस हुत्वा जयदानद दायिनेशशिने अर्ध दिवाय सवत्स कपिलां त्रिप्रदक्षि -
14. णा कृत्य प्राकलज्य संसार स्सारतां परिललित कमलदलजल चंचल मालक्ष्य यौवन मद
15. मत्तदिवदित्य वाणिनी भ्रू भंग भंगुर मव लोक्य जीवित द्रविण कणिकानुसरण विवश विश बिलासिनी
16. चित्ते क चंचलंधिमम्य सकल सपद्वि ललितं॥ उक्तं च। वाताभ्र विभ्रम मिदंभुवनाधिपत्य मापात मा
17. त्र मधुरों विषयो पह भोग:। प्राणास्तृणाग्रंजल बिन्दु समा नराणां धर्म सखा पर महो पर लोक या
18. ने भ्रमत्संसार चक्राग्र कर धारा मिमां श्रियं। प्राप्यं मे न दुस्तेषां पश्चाताप: परं फलम्। इति स्रशृव्या
19. विनिश्विनी प्रणीतसघन द्रविणंइत्यैव माकल्ल्य मातृ पित्रोरात्मनश्चपुण्यं यशोभि वृद्धये।

द्वितीय ताम्र पत्र

1. पादये दया तस्या कृत धित्वा बृद्रष्ठान विनिमृताय कुशिक गोत्रायपि सामि (म) वेद -
2. विस्वात .....भिलस्ति श्रुताध्याय माध्यं दिन शाखा न्यायिने श्रुताध्ययन श्री उद्धव रणप्र गोत्रायश्चाश्रु -
3. ताध्यन प्री .....श्रुताध्ययन श्री धरणिधर पुत्राय श्रुताध्ययन श्री नामय : ---
4. य उपरिलिखित छिंदवाडा (छिबुदाड़क) ग्राम सवृक्षमाला कुलश्व कुरांद्या योधितो निधि निक्षेप मुस्त्रि (ध) तान-
5. नद नदी तडाग कूप वाटिकाराम सर्व्वाभ्यंतर सित्या द्वि ब्राह्मण भुक्ति वर्ज्ज मुदक पूर्वक तथा शा-
6. सनेन प्रदत्त यदेतत् ग्राम निवासिभि: कर्ष कैश्चकर हिरण्य भाग भोगादिकमाज्ञा श्रवण विधेयै -
7. र्भूत्वा सर्व मनुष्यै ब्राह्मणेभ्य समुपनुतव्यं ।। उक्तं च। बहुभिर्व्वसुधा भुक्ता राजभि: सगरादिभि :। यस्य
8. यस्य यदा भूमिस्तस्य तदा फलं।। त्रीण्या हरति दानानि गाव: पृथ्वी सरस्वती। आसप्तय पुन: त्ये स -
9. ता दोह वाह निवेदनै:॥ वेरसिये प्रणनेण मह नृ पिव्यंत:। के नापि सह नेरेय वनगतनपिच -
10. रं स्थिता। मिह राज्ञा: परं महीपति य रण जित्वा पापादयेत मनसो भुवि भूपा: यं पालय त्रि
11. सदपि प्रभु --- वासे षष्टिते धिं वह्नि जोज्जाल रेषं भूक्ति सोख्यं खंडित राजि माकण समं दु:खं
12. मिणयो पयश्च द्यु लंलाकठिव शितेशुचि नदी प्रतोपन योवन पेत ज्रीवित मंनुजामल दल व्या-
13. लोल तोय क्षितिज्ञाधवित्य त्रसव स्थितिं क्षिति सुजा दानेन लो -
14. पेत्यित:। सर्व्वनेतान्न भाविन पार्थिवेन्द्रान भूयो भूयो याचते राम -
15. भद्र:॥ सामान्योयं धर्म्म सेतु नृपाणां काले काले पालनीयो भवद्भि:॥
16. विस्महा विनिविज्जोत: पाहन्ता विनिबूबूते। लिहप्रेत महामोयं। बृहे -

17. त्रीम निवेदिति॥ इति ज्ञात्वा परै भूपैर स्मद्वंसो (शे) द भवे (वै) स्तथा धर्म्मोय
18. मिहयो लोप्योये: केश्चिद् धर्म्म चित्तकै: ॥ दू महासांधि -
19. विग्रहिक श्री मनोवद्य॥ स्वहस्तोयं महाकुमार श्री त्रै
श्री श्री 3 लोक्य वर्म्मदेवस्य॥

प्रथम ताम्र पत्र

द्वितीय ताम्र पत्र

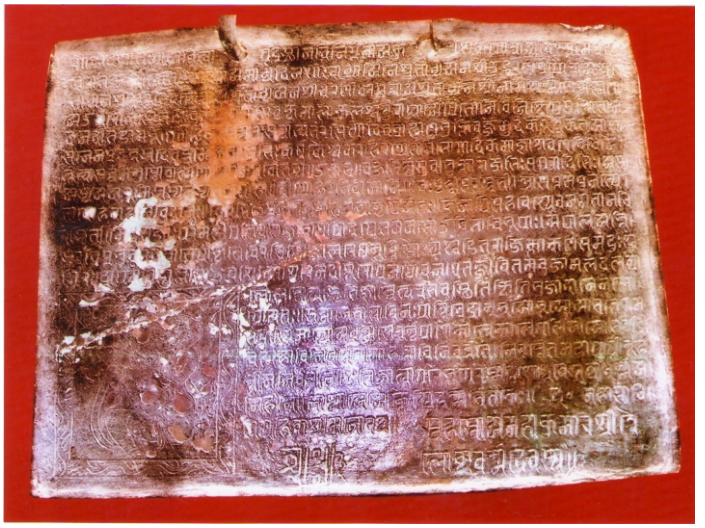

रामगढ़ की जोगीमढ़ा गुफा के चरण चिह्न लेख

डॉ भगवतीलाल राजपुरोहित

छत्तीसगढ के अम्बिकापुर जिले की रामगढ गुफा जोगीमढा के नाम से विख्यात है। उसमें दो छोटी छोटी गुफाएँ हैं । दोनों में ईसवी पूर्व दूसरी तीसरी शती की ब्राह्मी लिपि में छोटे छोटे गुहालेख है। एक लेख में काशी के एक रूपकार और देवदासी सुतनका भी उल्लेख है। ये लेख प्रकाशित हैं। इनमें से एक गुफा को लक्ष्मण गुफा कहते हैं। जिसकी छत पर चित्रांकन के रंगो की झाँई पाई जाती है। एक रामसीता गुफा है जिसे विद्वानों ने भारत की सर्वप्राचीन रंगशाला का अवशेष माना है। इस गुफा के सामने दाहिनी ओर की भित्ति पर दो चरण चिह्नों का रेखांकन है। इसीलिए यह कल्पना की गई कि ये राम के चरण चिह्न है। वनयात्रा के समय राम, लक्ष्मण , सीता यहाँ आकर रहे थे। नीचे गुहा दर्रे में पानी की एक झरी है जिसे सीताकुण्ड कहते हैं। कुछ लोग इस रामगढ़ पर्वत को कालिदास के मेघदूत का रामगिरि मानते हैं । अत: जब यह मध्यप्रदेश में था तब मध्यप्रदेश संस्कृत अकादेमी , भोपाल की ओर से प्रतिवर्ष आषाढ़ के प्रथम दिन वहाँ कालिदास स्मरण का आयोजन होता था। उसमें ही यात्रा के अवसर पर मेरी इच्छा के इनुसार ड़ॉ शीतांशु रथ उन चरण चिह्नों के फोटो लिये थे।

उन फोटो का सावधानी पूर्वक वाचन लिपिवेत्ता ड़ॉ जगन्नाथ दुबे ने किया। तब ज्ञात हुआ कि उन दोनों चरण चिह्नों के मध्य योगमुद्रा में बैठे एक योगी का रेखांकन है। इसीलिए इस स्थान का जोगीमढ़ा नाम साार्थक है। योगी के आसपास और दोनों चरणांकनों के आसपास ईसवी पूर्व दूसरी तीसरी शताब्दी की ब्राह्मी में भित्तिलेख उत्कीर्ण हैं। वहाँ जो पढ़ा जा सका तदनुसार लेख इस प्रकार हैं।

1. दोनों चरणों में - विमल / विमल।
2. बायें चरण चिह्न के पास - भिखुनो भीम
3. मध्यवर्ती योगी के रेखांकन में - भीम गौतम विमल भिक्खु पुरसोत्तम विजय
4. दाहिनें चरण चिह्न के प ास - भिक्क महेस विमल क्वो -- स

अक्षर कुछ अस्पष्ट होने से पूरा लेख नहीं पढ़ा जा सका। परन्तु इस लेख में विभिन्न भिक्षुकों के नाम अंकित हैं। यह स्पष्ट है।

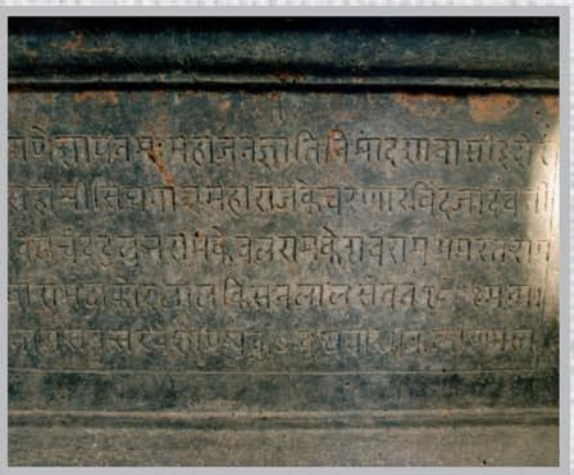

सिद्धनाथ

विक्रमादित्य : परमार कालीन

विक्रमादित्य रामघाट

विक्रम कालीन सुन्दरी

विक्रमांकित पिंगलेश्वर चतुर्मुख महादेव

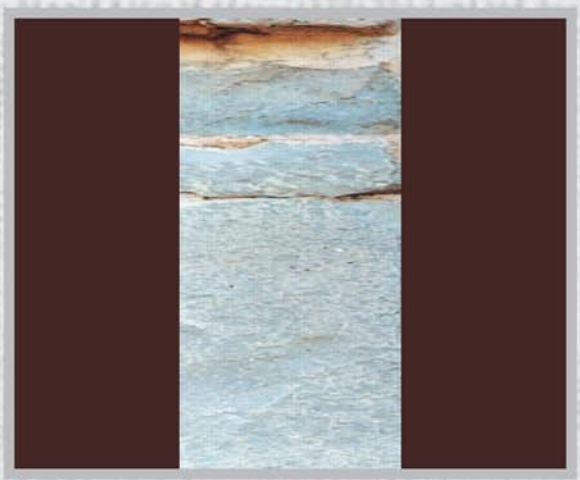

महेश : विषमशील

प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं आजादी के संघर्ष पर केन्द्रित यादगार पुस्तकों से साक्षात्कार

आजादी के आंदोलन में अपना सब कुछ न्यौछावर कर देने वाले असंख्य क्रांतिवीरों और अनाम योद्धाओं को नमन।

स्वराज संस्थान संचालनालय

संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन
रवीन्द्र भवन परिसर, भोपाल-462002
फोन : 0755-2660563, 2660407
फैक्स : 2661926

स्वामी / प्रकाशक : डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित, निदेशक महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, 1 उदयन मार्ग, उज्जैन (म.प्र.) से प्रकाशित तथा मुद्रक विनय तिवारी, प्रबंधक द्वारा पंचायतीराज मुद्रणालय, 1 औद्योगिक क्षेत्र, नागझिरी, देवास रोड़, उज्जैन (म.प्र.) से मुद्रित। सम्पादक : डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित।